श्रीवीतरागायनम

# प्रभु के मार्ग में ज्ञान का प्रकाश

सद्गुरु श्रीविजयकेसर सूरिजी महाराज

— —

अनुवादक—

ब्रह्मचारी शङ्करदास जैन

— ० —

प्रकाशक—

मन्त्री श्री आत्मानन्द जैन सभा,

अम्बाला शहर।

[illegible] सं० २४५८ } मूल्य [illegible] ।=) { विक्रम सं० १९८९

[illegible]म सं० ३७ } { ईस्वी सन् १९३२

प्रकाशक—
मंत्री, श्री आत्मानन्द जैन सभा,
अम्बाला शहर।



मुद्रक—
सत्यव्रत शर्मा,
शान्ति, प्रेस शीतलागली




मैं इस पुस्तक को पूज्यपाद श्री श्री १००८

आचार्य देव श्री विजयवल्लभ सूरि

के

करकमलों में

सादर अर्पण करता हूँ

और उनका आशीर्वाद

अपनी आत्म-शुद्धि के लिए

चाहता हूँ ।

दासानुदास—

शंकरदास जैन ।

# दान-प्राप्ति-स्वीकार

निम्नलिखित दानी महाशयों ने इस पुस्तक की छपाई में आर्थिक सहायता दी है।

१—ला० रेनूराम सत्यपाल जैन नौशहरा जीरा ८०)
२—ला० चान्दनमल रत्नचन्द जैन बैंकर अम्बालाशहर ४८)
३—ला० राधामल ज्योतिप्रसाद जैन अम्बालाशहर ५०)
४—बाबू कुन्दनलाल बी० ए० बी० टी० बिजनौर ( विवाह की प्रसन्नता में ) २५)

यह सज्जन हमारे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। इन्होंने अपनी शुभ कमाई का कुछ अंश धार्मिक साहित्य के प्रकाशनार्थ अर्पण कर यश और पुण्योपार्जन किया है। आशा है कि अन्य महानुभाव भी इनका अनुकरण करेंगे।

—प्रकाशक।

# मेरी प्रार्थना

मान्यवर सज्जनो !

इस पुस्तक के कर्त्ता पूज्य योगीश्वर श्री १००८ स्वर्गवासी श्री विजय केसर सूरिजी महाराज हैं। मूल पुस्तक गुजराती भाषा में है। इस पुस्तक के पढ़ने से मुझे बहुत आनन्द और लाभ हुआ, इसलिए मेरी भावना हुई कि मैं इस पुस्तक का हिन्दी भाषा में अनुवाद करूँ जिस से हिन्दी भाषा के प्रेमी भी इस पुस्तक से लाभ उठायें। पुस्तक के पढने से प्रतीत होगा कि ग्रन्थकर्त्ता ने जनता पर कितना उपकार किया है। बड़े-बड़े गहन विषयों को कैसी सरल रीति तथा युक्ति प्रमाण से वर्णन किया है। जो सज्जन ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे, वे चाहे किसी भी मत मतान्तर के अनुयायी हों वे इस से अवश्य लाभ उठावेंगे। सुयोग्य अध्यापकों द्वारा यह पुस्तक जैन विद्यालय, गुरुकुल और पाठशालाओं में भी पढाई जा सकती है। इतने लाभ और गुणों को देख कर मैंने इस पुस्तक का गुजराती से हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। मेरी भावना थी कि पुस्तक का मूल्य कम से कम रक्खा जाय। जिन सज्जनों ने दान देकर मेरी इस इच्छा को पूर्ण किया है उन का मैं आभार मानता हूँ।

यद्यपि यह पुस्तक आकार प्रकार में छोटी है तथापि ज्ञान का भण्डार है—इस में कोई भी सन्देह नहीं।

ादि सज्जनगण इस पुस्तक को पढ़कर उस के विषय
ो क्रिया में लायेंगे तभी मैं अपने इस प्रयत्न
समझूंगा।

इस पुस्तक के अनुवाद तथा प्रकाशन में मुझे निम्नलि
से सहायता मिली है —

१—श्री पंडित शशिभूषण शास्त्री।
२—भाई फूलचन्द हेड टाइप-फाउण्ड्री।
३—ला० ज्ञानचन्द जैन एम० एस-सी।
४—श्री पंडित हंसराज जी शास्त्री।

मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

पुस्तक के अनुवाद तथा छपाई आदि में यदि कोई त्रुटि
गई हो तो पाठकगण मुझे क्षमा करें।

निवेदक—
शंकर दास।

# मूल लेखक की प्रस्तावना

इस पुस्तक का नाम 'प्रभु के मार्ग में ज्ञान का प्रकाश' इसलिए रक्खा गया है कि इस पुस्तक में पृथक् पृथक् विषय आत्मा को प्रकाशित करने वाले हैं। कर्म से बद्ध आत्मायें प्रायः अज्ञानावृत होती हैं। अज्ञान ही अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश। प्रभु मार्ग में चलते हुए यदि ज्ञान की ज्योति साथ हो तो मनुष्य बीहड़ और कठिन मार्ग में चलता हुआ भी ठोकरों से बच कर शीघ्र निश्चित स्थान पर पहुँच जाता है। एवं ज्ञान भी माया प्रपञ्च में ठोकर खाने वाले जीव को बचा कर सीधा प्रभु मार्ग की ओर ले जाता है।

इस पुस्तक में अलग अलग अठारह विषय हैं और वे सब प्रभु मार्ग में ले जाने के लिए अपने अपने स्थान पर सहायक हैं। कई उनमें ग्रहण करने के लिए, कई समझाने के लिए और कई त्याग के लिए उपयोगी हैं। प्रत्येक साधक अपनी योग्यता के अनुसार इनको ग्रहण कर सकता है।

इस पुस्तक को मैंने स्वतन्त्रता से नहीं लिखा। जैसे इसमें मेरे विचार हैं, ऐसे ही दूसरे महानुभाव ग्रन्थकर्त्ताओं के भी हैं। मैंने इन विचारों का संग्रह इस पुस्तक में सार रूप से इस लिए किया है कि वे मेरे विचारों के अनुकूल हैं। यदि इन विचारों से किसी को लाभ पहुँचे तो इस लाभ के अधिकारी वे ही ग्रन्थ कर्त्ता होंगे। एक कूप या नदी का पानी अमुक कारण से पीने और इससे से नहीं पाने की आदता जाने जीवों का करता

व्यापार की हुई कामना के कारण पानी पिलाना, यह भी एक प्रकार का बालजीवों के लिए उपकार का कारण समझा जाता है। वर्ना उद्देश्य इस पुस्तक के लिखने में रखता है। शेष बात यह है कि यदि मिसरी अन्धेरे में खाई जाय तो भी मुँह मीठा होगा, इसमें संशय नहीं।

विषय अनुक्रमणिका—(१) प्रेम आत्मस्वरूप है, (२) जो जिस की खोज करे वह उसको पायगा। (३) आत्मा स्वतन्त्र है (४) काय कारण के नियम विषय अचल है। (५) एकाग्रता पूर्वक ध्यान करना योग्य है। (६) कर्म की सत्ता। (७) कर्म की सत्ता तोड़ने का ज्ञान आत्मा को है। (८) पुरुषार्थ। (९) विचार और इच्छा के बल का उपयोग। (१०) चार की पवित्रता। (११) माया का त्याग। (१२) सत्य की प्राप्ति के लिए दशा कल्लो। (१३) विचार शक्ति का प्रभाव। (१४) आध्यात्मिक जीव। (१५) स्वावलम्बन। (१६, १७) आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए किस प्रकार और कहाँ से आरम्भ करना। (१८) सुख और शान्ति के लिए परमात्मा का स्मरण। यह इस पुस्तक के विषय हैं।

वि० सं० १९८४<br>श्रावण वदी ३<br>रविवार

आचार्य श्री विजयकेसर सूरि<br>वीशनगर।

❀ ॐ ह्रीं अर्हम् नमः ❀

# प्रभु के मार्ग में ज्ञान का प्रकाश

## प्रथम प्रकरण

## [ प्रेम ]



समस्त सद्गुणों का मूल प्रेम है। इस प्रेम का आधार शरीर का सौन्दर्य या धन की प्रचुरता नहीं। मुझे किसी से भविष्य में लाभ होगा, किसी से सहायता प्राप्त होगी यह विचार इस प्रेम का आश्रय नहीं। परन्तु केवल सत्ता को पहुँचा हुआ आत्मा अनन्त शक्ति वाला है और आत्मा ही परमात्मा है—ऐसा मानकर आत्म दृष्टि से आत्मा पर प्रेम करना ही वास्तविक प्रेम है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रेम, प्रेम नहीं किन्तु मोह है, राग है। दूसरों को शान्ति देकर आप सुख मानना यह प्रेम है। प्रेमी, दूसरों को पवित्र बनाने का कार्य करता है। प्रेम के विशाल राज्य में सद्गुण रूप अनेक छोटे छोटे राज्यों का समावेश होता है। जहाँ प्रेम निवास

करता है वहाँ ही आत्म ज्योति का प्रकाश है, प्रेम के भीतर आत्मा का अनुभव होता है। जो सत्ता, शक्ति, राज्य और धन के अधिकार से प्राप्त नहीं होती, वह प्रेमी उपदेशक के वचन में निवास करता है, जिस उपदेशक में प्रेम नहीं उसका उपदेश चाहे कितना ही दूसरों को मोहन वाला क्यों न हो, पाण्डित्य से परिपूर्ण क्या न हो तो भी उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उसमें विशेष अधिकता का कुछ अनुभव नहीं होता। प्रत्युत वह उपदेश आत्म जागृति और अन्तरीय प्रेम के अभाव से रूखा और प्रभाव हीन हो जाता है। जैसे श्रद्धा किसी साध्य का साधन है वैसे प्रेम साधन नहीं किन्तु साध्य है और वह साधन का फल स्वरूप है। प्रेम को प्रकाशित करने का एक ही मार्ग है। और वह यह है कि दूसरों को दान देना। दान प्रेम का प्रणाली है इसके द्वारा प्रेम रूप जल, बाहर निकल कर दूसरों को शान्त करता है। मँगन वाले याचकों को एक पैसा देना या रोटी का टुकड़ा देना मात्र, धर्म कार्य नहीं, परन्तु प्रेम, दरिद्रता के मूल कारण, दुखियों के दुःख और अज्ञानियों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ है। प्रभु महावीर ने दृष्ट दन्त वाले चण्डकौशिक को भी, उसका मूल पहचान कर उसे सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया। एक दृष्ट दन्त वाले पर भी इतनी उदारता का होना, यह प्रेम का ही अद्भुत महिमा है। संगमदेव ने प्रभु महावीर स्वामी को ६ मास तक कल्पनातीत कष्ट दिये। भगवान् ने उनको बड़े ही धैर्य से सहन किया, भगवान् चाहते थे कि इसके बदले में उसके आत्मा का

कुछ उपकार हो जाय परन्तु उसे बोधि बीज सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो सकी। इस कारण भगवान के नेत्रों से जो अश्रुधारा बहा वही प्रेम की निर्मल धारा थी। वह रोता हुआ हृदय उस अभव्य जीव को बोध प्राप्त कराने में निष्फल हुआ। भगवान् के हृदय में एक क्रूर से क्रूर आत्मा के लिये भी कितना प्रेम है यह इस उदाहरण से स्पष्ट जाना जा सकता है। प्रभु शान्तिनाथ ने पूर्व जन्म में मेघरथ राजा के जन्म में शरण आया से बने हुए कबूतर को बाज के भय से मुक्त करने के लिये अपने शरीर का माँस काटकर दिया और बाज से कबूतर को छुड़ाया। इस कार्य की जड़ में प्रेम ही गर्भित है। कमठ तपस्वी के जीव ने ईर्ष्या से पार्श्वनाथ प्रभु को नासिका तक जल बरसा कर उसमें डुबाने का प्रयत्न किया, परन्तु भगवान् ने उसको बोधि बीज देकर अपने ही प्रेम मार्ग का पथिक बनाया। यहाँ पर भी प्रेम ही अपना कार्य कर रहा है। नेमनाथ प्रभु ने गृहस्थाश्रम में अपने विवाह के समय, बारात के भोजन देने के निमित्त इकट्ठे किये हुए पशुओं को मुक्त कराने में अपने विवाह का परित्याग कर दिया और संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होगये। इस अपूर्व त्याग में उन्होंने संसार को प्रेम का मार्ग बतलाया। मैतार्य मुनि ने, सोने के जौ चुगने वाले पक्षी को सुनार से बचाने के लिये सुनार के हाथ में अपने जीवन की आहुति देकर विश्वव्यापी प्रेम की मुख्यता बतलाई। मुनि सुव्रतस्वामी ने, भरुच के राजा की ओर से अश्वमेध यज्ञ में बलिदान होते हुए घोड़े को बचाने के लिये, जीवों के प्रेम के कारण एक रात्रि में

६२ योजन की यात्रा करने का महा कष्ट उठाकर वहाँ के राजा को प्रतिबोध देकर जो उन जीवों की रक्षा की था यह प्रेम की ही अपार महिमा का परिणाम है। गृहस्थाश्रम में भी त्यागियों की तरह धार्मिक जीवन बिताने वाले सेठ सुदर्शन ने अभया रानी को बचाने के लिये मौन धारण कर, सूली पर चढ़ना स्वीकार किया।

तीर्थंकर देवों के समवसरण में गाय सिंह, बकरा और बाघ बिल्ली और चूहा, साँप और मोर ऐसे ही दूसरे प्राणी—जिनका परस्पर विरोध है—एक ही स्थान पर शान्तिपूर्वक इकट्ठे बैठते हैं और अपना जाति विरोध भूल जाते हैं, इसका यही कारण है कि श्री तीर्थंकर देवों ने अपने जीवन में विश्वव्यापी प्रेम को प्रगट किया है।

पशु पक्षी भी प्रेम को किसी अंश तक समझते हैं। अपने प्रेमी की तरफ कुत्ता अपनी पूंछ हिला कर, घोड़ा हिनहिनाकर प्रेम प्रगट करता है। गाय भैंस अपने मालिक की तरफ प्रेम से देखती हैं और हाथों को जिह्वा से चाट कर प्रेम को जतलाती हैं।

सच्चे प्रेमी मनुष्यों का उपदेश प्रायः निरर्थक नहीं जाता। लोग उन्हें हृदय से चाहते हैं, उनके वचनों में अमोघ शक्ति होती है इसलिये जीवों के हृदय पट पर सदा के लिये गहरा अमर सम्मान के साथ अंकित हो जाता है। यह जगत् सच्चा प्रेम करने वालों के न होने से दुखित है। जीवों को आत्मिक बोध, न मिलने से ही उनमें आत्मा की अनन्त शक्ति गुप्त और दबी पड़ी रहती है

न्यालु प्रेमी महात्माओं की सहायता से उनकी शक्ति शीघ्र ही प्रादुर्भाव होती है।

प्रेम कभी निष्फल नहीं जाता। प्रेम का बदला प्रेम से देना जगत् में कोई उत्तम सद्गुण नहीं है। तुम्हारे में यदि प्रेम है तो विश्व के समस्त जीवों की तरफ भेद भाव न रखकर प्रेम की वर्षा बरसाओ। सच्चे प्रेमी में भेद भाव नहीं रहता वह सबको समान दृष्टि से देखता है।

गरीबों की अपेक्षा धनी पुरुषों में अधिक प्रेम रखना चाहिये, क्योंकि उनके समान दयापात्र दूसरा जीव भाग्यवश ही मिलेगा। यह बात सुनने में तो तुम्हें पक्षपातपूर्ण अथवा विरुद्ध सी मालूम होगी, परन्तु विचार करने पर मालूम होगा कि धनी लोगों का जीवन, आशा-तृष्णा, लाभ-ईर्ष्या और अभिमान से भरपूर होता है, इच्छानुसार अनुकूल विषयों के भोगोपभोग में लगे रहने के कारण परमार्थ साधन का कार्य तथा परोपकार करने का काम उनको भाग्य से ही सूझता है।

अपने आपको दुःख का अनुभव न होने से उन्हें दुनिया के दुखित आत्मा की पीड़ा का विचार नहीं होता। इन्द्रियों के पोषक विषयों की प्राप्ति के कारण वे सुखी मालूम पड़ते हैं परन्तु आत्म जागृति में, आत्मधन से तो वे रङ्क और अज्ञानी होते हैं। कल्याण के मार्ग से विमुख होते हैं। पूर्व पुण्य भोगने से पुण्य फल समाप्त हो जाता है, भविष्य के लिये तप्त्याग न करने से भावी जन्म में वे अवश्य दुःखी होंगे।

गरीब तो वर्तमान समय में दुःखी होने से इस दुःख से छूटने और भविष्य में सुखी होने के लिये विचार करता है। वर्तमान दुःख उनको भावी सुख की प्रवृत्ति के लिये प्रेरित करता है। इस लिये वर्तमान समय का दुःख और भविष्य काल में धनवान ही है। अतः वर्तमान समय में धनवानों को आत्म विचार की जागृति कराना, प्रभु मार्ग पर चलाना, यह विशेष दया का काम है। और यह कार्य ऐसे प्रेमी आत्मा ही कर सकते हैं। श्रीमानों के पास लक्ष्मी होने से वर्तमान समय में वे दूसरों की अपेक्षा नहीं करते, इसलिये प्रेमी आत्मा उन पर प्रेम की वर्षा करके उन के उनके और सूखे पात्र रूप हृदय में आत्म जागृति और सत्य कर्त्तव्य के बीज बो सकते हैं॥२१॥

प्रेमी आत्मा में ईर्ष्या नहीं होती, ईर्ष्या का दोष दूसरों का महिमा को देखने नहीं देता। जो दूसरों का महत्त्व देख सकते हैं वे ही महत्त्व का मूल्य जानते हैं और वे ही भविष्य के महा पुरुष बनते हैं॥२२॥

प्रेमी आत्मा गुणानुरागी होता है, जो गुण जिस जीव को प्यारा लगता है उस गुण के आने के लिये गुणानुरागी जीव उस दिशा का द्वार खोलता है। वह गुण उस द्वार से जीव के अन्दर प्रवेश करता है। इस उदारता के कारण जीव उन गुणों से भूषित होता है। प्रेमी जीवन में अभिमान नहीं होता। वह अपने उत्तम कार्यों को दूसरों के सामने नहीं कहता, क्योंकि यह भी गुप्त अभिमान है। दूसरों को उत्साहित करने के लिये प्रसंग से बात करते समय भी वह अपनी प्रशंसा नहीं चाहता॥२३॥

प्रेमी आत्मा अपने अच्छे कर्तव्यों का बदला नहीं चाहता। अच्छा काम करके बदला चाहना-यह प्रेम में नहीं होता, यह तो व्यवहारिक लेन देन में होता है। नम्रता के गुण से आकर्षित होकर अभिमानी जीव भी उसके पास से सद्गुण प्राप्त करते हैं पापी जनों पर भी उसका द्वेष न होने से वे भी उससे सुधर सकते हैं॥७५॥

प्रेमी जीव में स्वार्थ नहीं होता, इसलिये उसके उपदेश का प्रभाव उत्तम होता है। स्वार्थ त्यागी सच्ची मूर्तियां ही विश्व की नेता बनती हैं। ७६॥

सेवा करने से ही आत्मा की महान शक्तियों का विकास होता है। त्याग में ही आत्मा की उन्नति निवास करता है जिसको महा पुरुष बनना है उसे प्रथम अपने सर्वस्व का बलिदान करना होगा॥ ७७॥

क्रोध और प्रेम में परस्पर विरोध है। क्रोध हानिकारक तत्व है, क्रोधी से मनुष्य स्वभाव की निर्बलता और कर्म के सिद्धान्त की अज्ञानता सूचित होता है। शारीरिक पाप से क्रोध का पाप कम नहीं बल्कि अधिक है। क्रोध से तो गृहस्थ का धर्म भी नहीं रहता तो फिर त्याग धर्म कहां रह सकता है। उसके जीवन में मधुरता नहीं रहती, जीवन कटुक हो जाता है। क्रोधी मनुष्य में ईर्षा, अभिमान, कृपणता, विषय-वासना, निर्दयता, कठोरता, हठवाद, शोका-तुरता और दुराग्रह आदि अनेक दुर्गुण होते हैं। इस स्वभाव का सम्हलन के लिये प्रेम ही मुख्य साधन है। प्रेम से यह समस्त वृत्तियें बदल जाती हैं।

---

## प्रकरण दूसरा

## जिसकी खोज करोगे वह मिलेगा ।

विश्व में अच्छे बुरे दोनों ही तत्व भरे हुए हैं । इनमें जिसको तुम तलाश करोगे, जिसकी तुम इच्छा करोगे वह तुमको मिलेगा जिसकी तुम हृदय में इच्छा करते हो उसको ही लेने का तुम्हें अधिकार है । धब्बे पर दृष्टि न डालो ? औरों के दोषों को न देखो पर दूसरों के जीवन के शुभ गुणों की ओर ध्यान दो । क्योंकि आत्मा अमर स्वरूप है, दोष विनश्वर हैं उनको आत्मा से पृथक होना ही पड़ेगा ॥ १ ॥

यह विश्व एक पाठशाला है । इसमें रहकर प्रेम के पाठ सीखने और उनकी परीक्षा के बहुत से अवसर मिलते हैं । इस प्रेम से सब जीवों के प्रिय बनो । प्रेम यह एक लगाव ही नहीं, परन्तु इसके मूल में अध्यात्म शक्ति का बल है । यदि इसमें यह अध्यात्म शक्ति न हो तो इस प्रेम का उबाल थोड़ी देर में शान्त होकर निराशामय मोह के रूप में बदल जायगा । उसे प्रेम नहीं कह सकते । प्रेमम यदि सच्ची चिंगारी होगी तो वह यह सारे विश्व को प्रेममय बनाने के लिये समर्थ होगा । जिस अवस्था में रख गये हो उसीमें रहकर उन्नति करो । विपरीत अवस्थाय जीव को सहनशील, नम्र, उदार दयालु निरभिमानी और विवेकी बनना सिखाती हैं । यह विपरीत संयोग अपने को योग्य बनाने के साधन हैं इसलिये इनका स्वागत करो । दोष और द्रोह के वातावरण में रहता हुआ

लोहा जैसी चाहे वैसी आकृति को धारण कर सकता है। इसी प्रकार विरुद्ध और विपरीत अवस्था रूप एरन तथा हथोड़े के बीच में कार्य करती हुई आत्मा भी अवश्य उन्नति कर सकती है ॥७॥

आगे बढ़ने के लिये तुम कभी सुख का इच्छा न करो। प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच में रहकर प्रेम और संकल्प का बल बढ़ाते रहो। जिनमें आत्म प्रेम का बल अधिक हो उनका सहवास तथा अनुसरण करते हुए आगे बढ़ो ॥८॥

प्रेम, प्रेम को पोषण करता है। इसलिये जिस पुरुष ने सब आत्मा के लिये अपने जीवन में प्रेम दिखाया है, ऐसे महापुरुष का आदर्श जीवन अपने सामने रखो। उसके अन्दर रहने वाली दया, उसके कोमल स्वभाव और दयालु जीवन का विचार करो। इस भावना से तुम्हारा उस महान शक्ति के साथ अन्तराय सम्बन्ध जुड़ेगा और तुम सब जीवों से प्रेम करना सीखोगे। जिस लोहे की तार द्वारा बिजली का प्रवाह चल रहा है उस तार के साथ लोहे का टुकड़ा लगाने से उसमें भी बिजली का प्रवाह चलने लगेगा इसी प्रकार जिसने अपने जीवन में प्रेम का प्रवाह बहाया है उसमें प्रेम रखने से तुम्हारे हृदय में भी प्रेम का प्रवाह बहेगा ॥ ९ ॥

अज्ञान सब दुर्गुणों का मूल है इसलिये तुम्हारे सम्बन्ध में जो मनुष्य आवे उसके अज्ञान को दूर करने का तुम प्रयत्न करो, उसको विशुद्ध आत्म शक्ति का भान कराओ आगे बढ़ने

का मार्ग दिखाओ। ऐसा करने से तुम अपने प्रेम का सदुपयोग कर सकोगे ॥ ७ ॥

जैसे दूसरों को गुणग्राही बनाकर गुणदान देते हो ऐसे दूसरों से गुणग्रहण करना भी सीखो। आमदनी के बिना दान देने से दिवाला अवश्य निकलेगा, परन्तु जिनके अन्तरीय कपाट खुल गये हैं उनको इसकी आवश्यकता नहीं। जब तक तुम्हारे यह महा शक्ति पैदा नहीं होती तब तक हो अपने लिये गुण ग्रहण करने की अधिक आवश्यकता है। ॥ ८ ॥

तुम्हारे सहवास में जो जो मनुष्य आवें उनमें जो कुछ भी उत्तम गुण हों उनका ग्रहण करो और उनके गुणों का अनुमोदन करो, इससे तुम भी गुणी बनोगे। दूसरों के दोष देखने से उनके दोष ग्रहण करोगे। आप प्रभु रूप बने बिना दूसरों में प्रभुता नहीं देख सकते। महापुरुष ही दूसरों में प्रभुता देख सकते हैं क्योंकि गुणों का अनुराग तथा उचित सन्मान करना बड़े पुरुषों का ही एक बड़ा लक्षण है ॥ ९ ॥

विचार यह एक शक्ति है। प्रत्येक शक्ति अपने जैसी दूसरी शक्ति को उत्पन्न अथवा प्रकट करती है। हरएक विचार के अनुकूल दूसरे विचार वातावरण में से तुम्हारी ओर आकर्षित होंगे। तुम जिस मनुष्य की तरफ प्रेम और सद्भाव दर्शाते हो उससे उस मनुष्य में रहने वाले प्रेम तथा सद्गुणों को विकसित तथा प्रफुल्लित करते हो, और उसके हृदय में भी तुम्हारी ओर

वैसा ही भाव उदय होगा। विचारों को निर्मल बनाओ, क्योंकि इनमें विचित्र शक्ति रहती है। तुम्हारे शब्दों से तुम्हारे विचारों का भाव मालूम हो जाता है। तुम्हारा भविष्य बनाने वाले तुम्हारे विचार ही हैं। तुम्हारा हरएक विचार बल शक्ति रूप में बाहिर जाता है और वहाँ से अपने जैसे विचारों को लेकर वापिस आता है। ये उक्त विचार शरीर को नीरोग बनाते हैं। वचनों में बल पैदा करते हैं और मन को दृढ़ सङ्कल्प वाला बनाते हैं ॥११॥

प्रेम उन्नति का साधन और द्वेष उसका बाधक है। इन नियमों का जहाँ जहाँ भंग होता है वहाँ इसका परिणाम दुःख और व्याधि अथवा अन्य रूप में प्रकट हुए बिना नहीं रहता। यह नियम अटल है ॥१२॥

प्रेम, प्रेम को और द्वेष, द्वेष को उत्पन्न करता है। विश्व में उत्तम भावना फैलाओ और सामने से वह भावना, व्याज सहित ग्रहण करो। विश्व के जीवों को बल दो, इससे तुम में सङ्कट के समय अधिक परिणाम में बल प्राप्त होगा। विश्वास रक्खो कि इस प्रकार सहायता करने से तुम्हारी सहायता भी अन्य लोग आपत्ति के समय में करेंगे। द्वेष का बदला प्रेम रूप में दो इससे तुम्हारी अधिक उन्नति होगी ॥१३॥

द्वेषी को मित्र बनाओ और उसका भी कल्याण चाहो। अपकार का बदला उपकार से दो। प्रेम से ही द्वेष जीता जाता है। द्वेषी की तरफ प्रेम के विचार भेजो। इससे उसका द्वेष

असमर्थ हो जायगा। द्वेष से प्रेम अधिक बलवान् है। इसलिये प्रेम से ही द्वेष को जीतना चाहिये। यदि द्वेष के बदले शत्रु से प्रेम करोगे तो उसका द्वेष तुम्हारे तक पहुँच ही नहीं सकेगा। दूसरों की उन्नति करने से अपनी उन्नति स्वतः हो जाती है ॥१४॥

नम्रवाणी स्वर्ग में से प्रवाहित होता हुआ दिव्य रस है। प्रेम की मधुरता और करुणा दृष्टि से [illegible] जीवों को देखो ॥१५॥

## प्रकरण तीसरा

## आत्मा की स्वतन्त्रता

हमारी आत्मा के अतिरिक्त हम विश्व में कोई दूसरी शक्ति सुख दुःख देने के लिये समर्थ नहीं। हम अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के परिणाम से सुख और दुःख भोगते हैं। कर्म के फल को देने वाली किसी दूसरी शक्ति का सहारा लेने की आत्मा को आवश्यकता नहीं ॥ १ ॥

अन्य सत्ता की प्रसन्नता या अप्रसन्नता, आत्मा के हिताहित में बाधा डालने की शक्ति नहीं रखता। आत्मा अपनी अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से जो जो कारण उत्पन्न करता है उनसे परिणामों का अनुभव करती है। इससे यह निश्चय होता है कि आत्मा को अपने ही आलम्बन की आवश्यकता है ॥ २ ॥ जिन मनुष्यों को अपनी सत्ता में विश्वास नहीं होता इसलिये वे अपने से

अधिक किसी महासत्ता की कल्पना करते हैं और उसके चरणों में अपना मस्तक झुकाते हैं तथा इस संसार के दुःखों से मुक्त होने के लिये उसकी कृपा की याचना करते हैं ॥ ३ ॥

मनुष्य के मन की निर्बलता के कारण निकली हुई याचक वृत्ति, जीव को बहुत हानि पहुँचाती है। जीव अपनी कल्पित महासत्ता पर अपना सारा आधार रखकर अपनी भलाई के लिये पुरुषार्थ करना बन्द कर देता है ॥ ४ ॥

अपने अतिरिक्त दूसरी शक्ति के ऊपर अपने हित के लिए आधार रखने की दुष्प्रवृत्ति जब अत्यन्त बढ़ जाती है, तब मनुष्य का मुख्य कर्तव्य उस सत्ता को प्रसन्न करना हो जाता है। वह उसकी ही सेवा, पूजा और भक्ति करता है और—आप एक स्वतन्त्रशाली आत्मा है—इस विचार को भूल कर अपना मस्तक वहां ही झुकाता हुआ इस समय का अपना कर्तव्य कर्म बन्द कर देता है ॥५॥

ऐसी निष्फल प्रवृत्ति से मनुष्यों को बचाने के लिए भगवान् महावीर स्वामी ने कर्म की सुन्दर भावना का ज्ञान देकर जगत् को एक उत्तम तत्व का पाठ पढ़ाया है। जैन धर्म की कर्म फिलासफी इसी कारण सभी दार्शनिक विचारों से अधिक उपयुक्त और सत्य पर निर्भर है।

इस कर्म के विषय पर जैन धर्म की अन्य विशेष विचार धाराओं का आधार भी इसी में है। कर्मों के नियम अटल हैं।

हो सकता है कि मनुष्य, समाज के बनाये हुये नियमों को तोड़ दे और उसमें ठहराये हुए दण्ड से छूट सके, परन्तु कर्मों के नियमों को नहीं तोड़ सकता। वह हो सकता है कि उन नियमों का अनादर करे। परन्तु उससे उत्पन्न हुए दण्ड के भोग से नहीं छूट सकता ॥७॥

"अमुक संयोग और अमुक प्रवृत्ति का अमुक परिणाम होता है" इसमें थोड़ा भी फेरफार नहीं हो सकता। इसका नाम प्रकृति नियम (कानून कुदरत) या कर्मों का नियम है। प्रकृति नियम, तुम्हें यह करो या वह करो ऐसी आज्ञा नहीं देता पर यदि तुम्हें अमुक परिणाम की आवश्यकता हो तो अमुक कार्य करो, ऐसा कहता है ॥८॥

जौ बीजने से जौ, कांटा बोने से कंटक, पाप से खोट और पुण्य से पुण्य मिलेगा। जो बीजोगे वही काटोगे। यह प्रकृति कहती है, परन्तु तुम क्या बीजो ? यह आज्ञा प्रकृति नहीं देती। तुम को जो पसन्द हो बोओ, परन्तु बोने के पश्चात् उससे उल्टे दूसरे फल की आशा न रक्खो। "क्या करना चाहिए" इसकी स्वतन्त्रता प्रकृति ने तुम्हें दी है पर इससे उत्पन्न होने वाले फल से तुम नहीं बच सकते। यह कर्मों का महा नियम है ॥९॥

कर्म के नियम में दया नहीं, प्रभु की कृपा या प्रसाद का उसमें प्रवेश नहीं। यदि यह होता तो कर्मों की अटलता नहीं

कहा जा सकती। इस नियम में यदि फेरफार हो तो फिर सामग्री में से क्या फल निकलेगा—इसका निर्णय न हो। यदि ऐसा हो तो मनुष्यों का सम्पूर्ण पुरुषार्थ रुक जाय। इसलिए कहा है कि प्रकृति में दया नहीं पर इसमें न्याय अवश्य है ॥१०॥

यदि कर्मों की यह सत्ता दया वाली और निर्बल हृदय की होता तो मनुष्यों का करुणामय हाय ध्वनि को सुन कर प्रत्येक समय में प्रकृति को अपने नियम बदलने पड़ते। इससे कर्मों का एक भी नियम निश्चित न रहता और अव्यवस्था बढ़ जाती। सब प्रकार के फल मनुष्य अपने कर्त्तव्य से पाता है। इस सत्य का ज्ञान प्रभु महावीर ने सारे विश्व को कराया है। इस अनुभव सिद्ध नियम में उच्च से उच्च सत्ता भी हस्तक्षेप करने के लिए समर्थ नहीं। संसार इस सत्य को जब भूल जाता है तब ऐसे महापुरुष प्रकट होकर इसी सत्य को फिर समझाते हैं। कुदरत के इस सृष्टि में कृपा अथवा प्रसाद को स्थान नहीं। कोई किसी को सुख या दुःख देने में समर्थ नहीं। एक कौड़ी जैसे क्षुद्र जीव से लेकर चक्रवर्ती राजा व इन्द्र आदि तक को जो सुख या दुःख होता है वह उनके योग्य या अयोग्य कर्तव्य का ही फल है। उनका कर्म ही सुख दुःख का कारण है।

जो जिसके योग्य नहीं उसको वह नहीं मिलता इस सत्य को भूल कर मनुष्य बहुधा किसी कल्पित सत्ता के आगे जो अपने कर्त्तव्य में से फल मिलना चाहिये उसके बदले दूसरे फल की प्रार्थना करता है। अपने लिए प्रकृति के इस अटल नियम को बदल

का अनुनय विनय करता है। पर हे भ्रान्त मनुष्य ! ऐसा अनुनय विनय करके अपने कर्तव्य फल से बचने के लिये तेरा यह प्रयत्न निष्फल है। इस फल को निष्फल करने के लिये किसी कल्पित महा सत्ता के आगे करुणाजनक मुख बनाकर आंसू गिराने की तेरी मेहनत निस्सार है। इसलिये तू अयोग्य कर्तव्य से उत्पन्न होने वाले परिणाम को सिंह की तरह वीर बनकर भोग। बकरे की तरह में में न कर। यह कार्य किसी सत्ता के आधीन नहीं कि वह तुम्हें इससे मुक्त करदे। जो कुछ है वह तुम्हारे पर ही निर्भर है॥ १५॥

तुम एक स्वतंत्र शक्ति हो। तुम में पुरुषार्थ करने की शक्ति और अवकाश है। अतः प्रार्थना करके एक के बदले दूसरा फल मांगने की मूढ़ता और याचना की प्रवृत्ति का नाश करो। इस समय विफल न बनो पर कर्म करते हुए सावधान रहो प्रार्थना करने के स्थान पर यह विचार करो कि प्रभु महान् आत्मा ने कैसे ज्ञान प्राप्त किया और कैसी प्रवृत्ति द्वारा कर्मों का नाशकर आत्म स्वरूप को प्रकट किया। कर्म के बन्धन को तोड़कर स्वभ स्वरूप से मोक्ष को प्राप्त किया इस बात का उनके जीवन से बोध लेकर उसी तरह बरताव करने के लिये तैयार हो जाओ। बहुधा लोग "जैसा कर्म वैसा फल" इस सनातन सत्य को भूलकर इच्छानुसार फल प्राप्त करने के लिये देव मंदिरों में अनेक प्रकार की मूर्खतामयी प्रार्थना करते हैं। जैसे-प्रभो ! हम यह दो वह दो। प्रभु महावीर ने तेरा किसी स्थान पर नहीं कहा तुम मेरी प्रार्थना

करोगे तो मैं तुम्हारे किये हुए अयोग्य कर्मफल से तुम्हें छुड़ा दूँगा अथवा इसके बदले उत्तम फल दूँगा। प्रभु ने तो अच्छी तरह बतलाया है कि तुम्हारा आत्मा ही सुख दुःख, स्वर्ग नरक, भव या मोक्ष का कर्ता है। यदि सुख दुःख देने की शक्ति प्रभु के हाथ में होती तो वे (प्रभु) ऐसी आज्ञा देते कि भाइयो! तुम अपनी इच्छानुसार कर्म करते जाओ परन्तु जिस समय तुम मेरी प्रार्थना करोगे तब मैं उस प्रार्थना से प्रसन्न होकर तुमको उत्तम और मुँह माँगा फल दूँगा।

इन महाप्रभुने जो यह बताया है कि यदि तुमको उत्तम फल की इच्छा है तो तुम अच्छे कार्य (कर्म) करते जाओ। तथापि लोग मार्ग दर्शक पर ही अपने को पार लगाने का बोझा डाल देते हैं और कर्त्तव्य कर्म को नहीं करते अर्थात् रास्ता दिखाने वाले के ऊपर अपने तारने का भार डालकर जन्म मरण के चक्र को बढ़ाने वाले विपरीत कर्म करते हैं।

मनुष्य को सर्वदा यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिये कि मुझे सुख दुःख देने वाला दूसरा नहीं पर मैं आप ही हूँ। मेरे अयोग्य कर्म के बिना कोई दूसरा मेरा एक बाल भी बाँका नहीं कर सकता। इस निश्चय में ही मनुष्य का आत्मबल रहता है। इस कारण से ही प्रभु महावीर ने आत्मसत्ता को सिद्ध समान अनन्त शक्तिशाली कहा है।

निर्बलता ही दूसरों पर आधार रखने की प्रेरणा करती है। जिस फल का कोई प्राणी जितना अधिकारी है उसको उतना ही

उसी प्रकार फल देकर कर्म की सत्ता समाप्त होती है। उस फल से मुक्त करने के लिये सहस्रों मनुष्य या देवता उसकी सहायता के लिये आवें पर उनमें से कोई भी बचा नहीं सकता। यहाँ यह शंका पैदा होती है कि यदि ऐसा ही है तो फिर देव गुरु और दूसरे सत्पुरुषों की सहायता लेने से क्या लाभ? इसका उत्तर यह है कि गुरु आदि, सुख उपार्जन करने या दुःख हटाने के साधनों का ज्ञान और उन साधनों के अनुकूल कर्म करने की सम्मति दे सकते हैं। वे सत्कर्म करने के लिये उत्साहित करते हैं। दुष्ट कर्म से बचने का जाग्रति उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार गुरु आदि निमित्त कारण हैं। इससे अधिक वे हमारी हानि व लाभ में कुछ भी भाग नहीं [illegible] सकते।

हम दूसरों का उपकार करना चाहें तो उनको उत्तम फल प्राप्ति के लिये उत्तम कर्म करने की प्रेरणा कर सकते हैं। अपने उत्तम चरित्र और अनुभव से उनको सन्मार्ग पर चलाने के लिये उदाहरण बन सकते हैं। उनको इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट त्याग का मार्ग दिखा सकते हैं।

कर्म के अटल नियम की अमोघता को देख कर बहुत से पुरुष डर जाते हैं। परन्तु इसमें डरने की कोई बात नहीं है। जैसे कर्म की सत्ता बलवान् है वैसे आत्म सत्ता उससे कहीं अधिक बलवती है। योग्य साधन मिलाकर पुरुषार्थ करने वाली आत्मा के आगे कर्म भी नत हैं।

---

# प्रकरण चौथा

## कार्य कारण के नियम

कर्म का सामान्य अर्थ कर्म ही है और प्रत्येक कर्म का कारण होना चाहिये। हरएक कार्य भूत काल के कारण का कार्य है और यही कार्य भविष्य में होने वाले कार्य का कारण बनता है। इस दृष्टि से देखें तो प्रत्येक कार्य एक प्रकार से कार्य होता हुआ दूसरी दृष्टि से कारण है। इस प्रकार कार्य कारण का सम्बन्ध है।

विश्व में सर्वत्र कार्य और कारण के नियम एक जैसे हैं। इसमें आकस्मिकता का कुछ भी अंश नहीं है। जिसको सद् भाग्य या पुण्य फल कहा जाता है वह भी किसी देव की कृपा से अकस्मात् ही प्राप्त नहीं होता। वह भी पूर्व कर्म का ही फल है। यह क्रिया करना चाहिये या नहीं यह मनुष्य के अपने हाथ में है परन्तु इस कार्य के लिये अमुक अमुक सामग्री चाहिये, ऐसे ऐसे सयोग चाहियें, इसका आधार ऊपर कहे हुए कार्य कारण के नियम पर अवलम्बित है। जहाँ तक मनुष्य इस सामग्री और सयोग को नहीं जानता अथवा प्राप्त नहीं करता वहाँ तक वह इस कर्म के अधीन रहता है। यह सयोग कैसे होने चाहियें, यह जानकर भी जीव यदि उसी तरह क्रिया न करे या विरुद्ध क्रिया करे तो वह उसके अधीन ही रहता है। पर जो इन सयोगों को जानकर उस रीति से वर्तन करे तो ये क्रियायें इसके वश में

रहेंगी। क्रिया का परिणाम जानकर जीव उसीके अनुसार अपनी इच्छा से क्रिया कर सकता है। यह जीव जहाँ तक इन साधनों को नहीं समझता वहाँ तक इसको कर्म अपने वश में रखते हैं। इन साधनों को समझ कर प्रबल पुरुषार्थ करने वाला जीव कर्मों को अपने आधीन कर सकता है।

ज्ञान एक प्रकार की सत्ता है। ज्ञानी सृष्टि के कार्य कारण के नियमों को जानकर उससे अपने इष्ट को सिद्ध कर लेता है इससे जीव शक्तिमान है। क्रिया करने में साधनों की आवश्यकता है साधनों में परिवर्तन करने से क्रिया में भी परिवर्तन होता है। इस नियम से ज्ञानी पुरुष अमुक कार्य करने के लिये उन उन साधनों को मिलाकर कार्य कर लेते हैं। ऐसे ही उस क्रिया में फेर फार करके या बन्द करके अपनी आवश्यकताओं के अनुसार परिणाम उत्पन्न करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इच्छानुसार परिणाम उत्पन्न करने में कर्म नियम के ज्ञान की मुख्य आवश्यकता है।

जो मनुष्य अपने जीवन का सुधार सकते हैं वे ही अपनी भवितव्यता को श्रेष्ठ बना सकते हैं। भविष्य इसके अनुसार ही बनता है। जो कर्म के नियमों को जानता है, वह इच्छानुसार अपना भविष्य बना सकता है, इसमें कोई नवीन बात नहीं।

भविष्य में जिस स्थिति या गति में जाकर शक्तियाँ प्राप्त करना है उसी लिये ... [illegible]

करते रहना चाहिये और यदि उसके लिये पूर्ण तैयारी हो जाय तो उसका भविष्य वैसा ही बन जायगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य सर्वथा पराधीन नहीं पर अपनी स्थिति के अनुकूल अपना भविष्य बनाने में स्वतंत्र भी है। इस स्वाधीनता के भान से उस उस कार्य के लिये उस जीवका उत्साह बढ़ता है। जो कर्म फल देने के लिये तत्पर है उसके भोगने की हमारी इच्छा हो या न हो तो भी उसकी प्रवृत्ति अवश्य होगी। यह क्रिया रुक नहीं सकती इसी को कर्म का उदय कहते हैं।

पूर्व जन्म की विविध प्रवृत्तिका फल स्वरूप जो कर्म समूह, कर्म की सत्ता में सगृहीत हुआ है, उस "सत्ता" कहते हैं। ध्यान और तपस्या आदि उत्तम परिणाम के योग से इसमें बहुत कुछ परिवर्तन कर सकते हैं।

वर्तमान की शुभाशुभ प्रवृत्ति के परिणाम से जो भविष्य बनता है वह वर्तमान काल में क्रिया कहलाती है। कर्म बन्धन में राग, द्वेष की भावनायें विशेष भाग लेती हैं।

प्रत्यक्ष जीव अपने कर्म से अपने कार्य करने की शक्ति उत्पन्न करता है। इसे ही अपने लिए अमुक शरीर में, देशमें, कालमें, या भावमें रहने की मर्यादा भी स्वतः बांध लेता है। तो भी जीव इस मर्यादा के परिवर्तन करने में, और शक्तियां के विकास करने में स्वतंत्र है अर्थात् इस मर्यादा को सकुचित भी कर सकता है और बढ़ा भी सकता है।

जो कर्म के बन्धन मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं उसके अपने ही बांधे हुए हैं। इन बन्धनों को दृढ़ करना या शिथिल करना अथवा तोड़ना इसी के हाथ में है। जैसे कुम्हार मट्टी से नई नई वस्तुएँ बनाता है, ऐसे जीव भी परिणामों द्वारा नये नये कर्मों का समह करता रहता है।

कर्म करने के जो जो साधन हैं उनमें विचार ही मुख्य साधन है। इसका कारण यह है कि विचार जीवकी शक्ति के बाहिर निकालने में करने के समान है। विचार मनमें प्रकट होते हैं और विचारों से प्रेरित होकर गति योग्य मानसिक द्रव्य के अणु (पुद्गल) के परस्पर मिलने से अनेक आकृतियें उत्पन्न होती हैं। ये सब आकृतियें मनके ही चित्र हैं। बार बार केवल एक ही विषय पर विचार करने से हम उस जाति के संस्कार दृढ़ होगये हैं। यह इन हुए संस्कार विचारों की क्रिया रूपमें लाते हैं इन विचारों को बराबर योग्य मार्ग की ओर लगाये तो मनमें धारण की हुई आकृतियें उत्पन्न करके शुभ प्रवाह बहाया जा सकता है। इसके लिये जैसी जैसी मानसिक शक्ति उत्पन्न करना हो वैसे विचार बार बार करने से इस शक्ति को उत्पन्न कर सकते हैं।

जैसे जैसे मनुष्यों की कामना और तृष्णा कम होता जाता है वैसे वैसे मनकी पवित्रता बढ़ता जाती है। इस प्रयत्न से शुद्ध विचारों का समह होता है। इससे उसका मन तपोमय और सुन्दर बनता है।

मनुष्यों का जीवन विचार मय है। प्रत्येक समय यह शुभा शुभ विचार करता रहता है। एक जन्म मे वह जैसा विचार करता है वैसा ही वह दूसरे जन्म में होता है। इस नियम स हम अपनी मानसिक प्रकृति कैसी बनानी चाहिये, यह काय हमारा ही है। यदि मनुष्य का आचरण अच्छा है तो, इसका यश व लाभ उसको है यदि बुरा है तो इसका दोष भी उसी का है।

मनुष्यों में विचार बल से भी अधिक कामनाओं का बल प्रबल होता है। यह भावना और कामना जिस परिमाण में प्रबल अथवा निबल होगी उसी परिमाण मे जीव की गतिका निश्चय होता है। अथात् कामनाओं के सन्तुष्ट करने का सयोग जहाँ मिल जाय उसी स्थान में इसको जन्म लेना पड़ता है।

विश्व म जो कुछ भी सुख या दुःख का भोग है वह सब हमारे लिये है। उसका कारण हम अवश्य हैं। हम ऐसा कोई भोग नहा भोगते, जिसका हमने स्वत उपार्जन न किया हो। कदाचित् हम इस भोग के कारण को भूल गय हो पर जो बीज रूप सस्कार सत्ता म स्थापित किया था उसका कम कभी नहीं भूलता।

कार्य करने में जो हेतु या उद्देश रहा हो वह कार्य से विशेष मुख्य होता है। जिस हेतु से मनुष्य कार्य करता है उसका प्रभाव उसके कर्ता के स्वभाव पर होता है। यह प्रभाव बड़ा दृढ होता है क्योकि इससे उस मनुष्य के स्वभाव में सुधार या बिगाड़

हुए बिना नहीं रहता। उसका असर उसके जीवन में चिरस्थायी रहता है।

यदि वह कार्य बुरा है पर उस कार्य के करने का उद्देश्य बुरा नहीं है तो उसका बल एकाध जन्म में फल देकर समाप्त होजाता है। इसका कारण यह है कि उस कार्य का असर उसके स्वभाव पर नहीं हुआ था। उसमें विशेष बलवती शक्ति उत्पन्न नहीं हुई थी।

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य करने में निश्चय सती बुद्धि का उपयोग करो। कार्य का उद्देश शुद्ध रखो। स्वार्थ को चित्तमें स्थान न दो। हृदय को निर्मल रखो। इतना विचार रखने वाला कार्य करने में निर्भय रहता है। उसका दुःख रूप प्रवाह आगे बढ़ने से रुक जाता है।

कार्य विचार के पीछे स्थूल रूप है। एक के पीछे एक हो जाति के विचार करते करते अन्त विचारों का समूह इतना प्रबल होता है कि किसी भी प्रसंग के [illegible] विचार क्रिया रूप स [illegible] हम [illegible] य करें तो फिर [illegible] प्रसंग मिलते ही [illegible] अपराध के रूप [illegible] तक कि वध भी [illegible]

जो मनु [illegible] यता का [illegible]

उत्पन्न करके अपनी भावना को बनाते हैं। तब वे प्रबल बनी हुई भावनाओं से प्रसंग मिलते ही कोई वीरता का कार्य कर सकते हैं। पूर्व जन्म में भी जिन्होंने जो जो भावनायें दृढ़ की हैं और वे वहाँ अनुकूल प्रसंग न मिलने से उपयुक्त नहीं हुई हैं उनका जब इस जन्म में उदय होता है तब ऐसा कोई प्रसंग मिलते ही वे ही भावनायें कार्य रूप में प्रगट होती हैं। इस प्रसंग पर यह कार्य "मैंने क्यों किया" इसका ज्ञान न होने पर भी कार्य बन जाता है। उस मनुष्य को आश्चर्य होता है कि यह कार्य उसने किस लिए किया, यद्यपि उस विचार करने का प्रसंग भी नहीं मिला था, परन्तु वह भलामानस यह नहीं जानता कि पूर्व जन्म में अनेक विचार करके वह भावनायें दृढ़ की गई थीं इसलिये ही इनके प्रगट होने का अनुकूल प्रसंग मिलने पर यह कार्य इस जन्म में उन भावनाओं द्वारा बन गया।

इससे यह समझना चाहिये कि जब कोई भी मनुष्य किसी कार्य के करने का बार बार आग्रहपूर्वक विचार करता है तब उसकी इच्छाशक्ति इस कार्य को करने के लिए दृढ़ होती है परन्तु यह कार्य वह कब करेगा इसका आधार योग्य प्रसंग पर निर्भर है। योग्य प्रसंग मिलते ही वह इच्छा शक्ति कार्यरूप में प्रकट होती है।

विचार करने की शक्ति रखने वाला मनुष्य विचार करते समय स्वतंत्र है क्योंकि पूर्व विचार करने से मन में जो चित्र जीव ने बाँधा था वह चित्र पूर्व विचारों के विरोधी नवीन उत्तम

विचार उत्पन्न करके बदल सकता है। जब ये पूर्व जन्म की भावनायें निकाचित स्वरूप धारण कर चुकी हैं तब उनके अनुकूल प्रसंग मिलते ही वे कार्य रूप में अवश्य स्फुरित होती हैं। उस समय इस जीव की स्वतन्त्रता नहीं रहती और वह परतन्त्र हो जाता है। उसके विचार, मन की प्रवृत्ति को किसी प्रकार भी बदल नहीं सकते किन्तु उनके आधीन होकर उनका अनुभव करना ही पड़ता है। चाहे उसकी इच्छा हो या न हो।

मनुष्यो! यदि इस समय वे संस्कार तुम को इष्ट न लगते हों तो तुम इसके विरोधी उत्तम विचार करने का टेव अभी से डालो? इससे भविष्य में ये संस्कार बलवान होकर पूर्व के संस्कारों को निर्बल कर देंगे। दो मेंढे लड़ते हैं उसमें छोटा हारेगा पर यह छोटा मेंढा जब बड़े मेंढे से अधिक पुष्ट और बलवान होगा तब बड़ा मेंढा उसके मुकाबिले में निर्बल हो जायगा, अतः यह मेंढा उस बड़े मेंढे को जीत लेगा इस दृष्टान्त से सिद्ध होता है कि इस समय का किया हुआ थोड़ा थोड़ा पुरुषार्थ प्रबल होकर, दृढ़ होकर निर्बल हुए पूर्व के पुरुषार्थ को जीत लेता है। बिजली की शक्ति को यदि लोहे की तार में जोड़ा जाय तो गर्मी उत्पन्न होगी और यदि टेलीग्राफ की तार से लगाया जाय तो गति उत्पन्न करती है। एवं यदि उसी बिजली की शक्ति को किसी और वस्तु की तार द्वारा उपयोग में लाया जाय तो प्रकाश उत्पन्न होता है अर्थात् एक ही बिजली की शक्ति भिन्न भिन्न साधनों द्वारा भिन्न भिन्न परिणाम, फल को उत्पन्न करती

है। इसी प्रकार एक ही आत्मशक्ति भिन्न भिन्न साधनों द्वारा उपयुक्त की हुई इच्छित फलों, परिणामों की आवश्यकता को पूरा करती है।

---

## प्रकरण पाचवा

## एकाग्रता और ध्यान

एकाग्रतापूर्वक किया हुआ कार्य थाड़े समय में और बहुत अच्छी तरह पूर्ण हो जाता है। चाहे कार्य स्थूल हो या सूक्ष्म, उसमें मन को लगातार लगाना चाहिये। इस प्रकार मन का एकाग्र होने का स्वभाव बन जाता है। मन को एकाग्र और एकलक्ष्य किये बिना मनुष्य ध्यान के मार्ग में आगे नहीं बढ़ सकता।

जब मन का प्रवाह किन्हीं दूसरे इधर उधर के विचारों से नहीं टूटता पर अखण्ड प्रवाह बना रहता है तब आत्मा की सत्ता में स्थित महान शक्तिया प्रगट होती हैं। आत्ममार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा न रखने वाला को मनकी एकाग्रता को सीखने का आरम्भ इसी तरह करना चाहिये।

प्रथम जो कार्य करना चाहते हो उस कार्य को निरन्तर लक्ष्य में रखो। व्यवहार के काय, जैसे कि पढ़ना, लिखना, सुनना, बातें करना इत्यादि में से किसी कार्य को करते समय उसी कार्य को लक्ष्य में रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त इधर

इधर चाहे कैसी भी चित्ताकर्षक वस्तु अथवा मनुष्य दृष्टि में आवें, तुम्हारे समीप कोई बातें होती हों, गायन होता हो, बाजे बजते हों इनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं जाना और व्यावहारिक या परमार्थिक लक्षित कार्य कुछ भी हो, उसको पूर्ण करने के बाद ही दूसरे काम में ध्यान देना चाहिये। इस एकाग्रता से मनुष्य में ग्रहण करने की, धारण करने की और स्मरण करने की शक्तियां बढ़ जाती हैं। दूसरों के विचार जानने की शक्ति, बोलने से पहले यह अमुक बात कहूंगा, इन बातों के समझने की शक्ति और अपने विचारों का गहरा असर दूसरों पर डालने की शक्ति बढ़ती है।

शतावधान अथवा सहस्रावधान जैसे विस्मय कारक, स्मरण शक्ति के कार्य, एकाग्रता से ही किये जा सकते हैं। एकाग्रता बढ़ाने का उत्तम साधन ज्ञानोपदेश का सुनना है। धर्म के व्याख्यान को एक चित्त होकर सुनने से एकाग्रता की शक्ति शीघ्रता से विकसित होती है।

वक्ता के प्रत्येक विचार को ग्रहण करने के लिये उसके शब्दों में एक तार होना आवश्यक है। उस प्रसंग पर चाहे कोई सामने या पास बोले तो भी सुनने में लगा हुआ ध्यान दूसरी ओर नहीं जाना चाहिये। इस एकाग्रता के बिना योग विद्या का सत्य मार्ग हाथ नहीं लगता।

' मन को एक स्थान में जोड़ना, एक विचार पर ठहराना एक आध सद्गुण में तल्लीन करना, किसी मूर्ति के अवयवों पर

जमाना, ये कार्य एकाग्रता के बिना नहीं बन सकते। इस प्रकार यदि मन को एकाग्र न किया जाय तो काय के अन्त-तक नहीं पहुँचा जा सकता। इस दशा में ही मन को सयम म लगाया जा सकता है। सयम के बिना समाधि की सिद्धि नहीं होती और समाधि के बिना वस्तु तत्व का अनुभव नहीं होता इस लिए एकाग्रता की अधिक आवश्यकता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो जो काय करो उसको एक चित्त से करो। पढ रहे हो तो पन्ने में चित्त लगाओ, खान बैठते हो तो खाने के सिवाय दूसरी ओर ध्यान न दो। यदि लिखते हो तो लिखने में ही ध्यान दो। जप करते हो तो जप म ही एक तार बनो। और सोते समय भी अन्य विचारों को मन्द करो। ऐसे छोटे छोटे कामों की एकाग्रता म करने की टेव डालने से अन्त में आत्म ध्यान करते समय आत्मा के सिवाय तुम्हारी वृत्ति दूसरी तर्फ नहीं जायगी। इस प्रकार आत्म साक्षात् कार अर्थात् आत्मा के सच्चे स्वरूप का दर्शन भी एकाग्रता से हो सकता है। इसलिये मन को एकाग्र करने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

## ध्यान

मन सकल्प विकल्प रूप है। मन के सकल्प विकल्पों का नष्ट होना मन का मरण है। आरम्भ में शुभ सकल्पों के स्थान पर शुभ सकल्प करने पडते हैं और शुभ सकल्पों के स्वभाव के पश्चात् शुद्ध आत्मिक सकल्पों के करने का अभ्यास डाला।

इसके बाद सर्वथा सकल्प बन्द करने चाहियें पर सदा के लिये सकल्प बन्द नहीं हो सकते पर धीरे धीरे सकल्प बन्द करने की प्रवृत्ति के समय को बढ़ाते रहो।

फिर सकल्प उठते हैं पर वे शुभ होते हैं। इनमें से शुद्ध म जाना पड़ता है वहा स्थिरता न रहे तो फिर शुभ म ही आना पड़ता है। इस प्रकार शुभ स शुद्ध म और शुद्ध में से आत्म स्वरूप में जाने आने का अभ्यास करने के बाद किसी समय स्वस्वरूप में ही अधिक समय तक रह सकते हैं। सब कर्म क्षीण होने से अन्तत सदा क लिये सब प्रकार के सकल्प नष्ट हो जाते हैं। यही मन का नित्य मरण कहलाता है। मन जैसे-जैसे सकल्प करने बन्द करता है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर इन्द्रियों का मरण होता जाता है अपने अपने विषयों म इन्द्रियों की अप्रवृत्ति ही इन्द्रियों का मरण है।

इन इन्द्रियों का भी एक ही समय उनके विषयों में जाने से नहीं रोक सकते। पाच इन्द्रियों को अशुभ विषयों से हटाकर शुभ में लगाना चाहिये। जैसे देव गुरु के दर्शन में प्रभु और सत्पुरुषों के गुणानुवाद सुनने में, देव गुरु आदि के गुणगान मे एव शरीर को दूसरों की सेवा में, भक्ति में परमार्थ और परोपकार के कामों म लगाना चाहिये। अन्तर्दृष्टि करके अनाहतादि नाद सुनने में, अन्तरीय स्वरूप देखने में, दिव्य गन्ध के सूघने में इन्द्रियों को लगाया जाता है। इस सूक्ष्म स्वरूप के श्रवण और दर्शन आदि में लगी हुई इन्द्रियें तथा मन, बाह्य स्थूल विषयों की

ओर से उदासीन बनकर अन्दर की तरफ झुक जाता है। अन्ततः वहां से भी मन और इन्द्रियो को खींचकर आत्मा के अन्दर लवलीन करना होता है।

मन और इन्द्रिये अपने साधारण स्वभाव को बदल कर जब आत्मा म लीन होती हैं तब आत्मा की निर्मलता प्रगट होने लगती है। मन इन्द्रिया का स्वामी है। मन की प्रवृत्ति बन्द होते ही इन्द्रियें अपने अपने विषया से जाते स रुक जाती हैं। ऐसा होने से नवीन कर्मो का बन्धन रुक जाता है और कर्मो का ऐसा स्वरूप अर्थात् आस्रव बन्द होते ही पूर्व के कर्मो में निर्जरा होती है। लोहे से मिली हुई अग्नि की तरह और दूध म मिले हुए पानी की तरह जो कर्म आत्म प्रदेश के साथ एक एक रस हो रहे थे वे आत्म प्रदेश स अलग हो जाते हैं यही कर्मो की निर्जरा है।

कर्म बन्ध के हेतुओ का अभाव होना और पूर्व के सब कर्मो का आत्म प्रदेश से जुदा होना यही मोक्ष है। ऐसे सब कर्मो क क्षय से शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इस लिये विषयो की ओर प्रवृत्त होते हुए मनको प्रबल प्रयत्न से रोकने की अधिक आवश्यकता है।

मन के वश म होने इष्टानिष्ट विषयो म प्रीति और अप्रीति रूप राग द्वेष नष्ट होते हैं। राग द्वेषके नाश होने से परमोपशम भाव (स्थिर शान्ति) प्राप्त होता है। राग द्वेष का उपशम करने वाला जीव मन का निग्रह करने के लिये समर्थ होता है। जो

विषयमें भ्रमण करता है। इस प्रकार भ्रमण करते हुए मन के रूप को निग्रह करने से राग द्वेष से मुक्त होकर आत्मा परमात्म स्वरूप हो जाता है।

जैसे जैसे इन्द्रियाके विषयों की ओर जानका राग शांत होता जाता है तैसे तैसे मनका विस्तार आलम्बन रहित होने से अर्थात रति के आश्रय से हीन होने के कारण आगे बढ़ने से रुक जाता है। विषयों में प्रीति करना ही रति है। मनके प्रसार का रति का ही आधार है। रति से मन पुष्ट होता है। इस पोषण के न मिलने से मन आगे बढ़ने से रुक जाता है। यह रति अन्य विषयो का आधार छोडकर ज्ञानका आधार लेती है। जहाँ रति होती है वहा ही मन की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार मन का भुकाव ज्ञान की तर्फ होता है। इसमे मन विषयो को छोड कर ज्ञानमे लगजाता है। विषयो के आलम्बन से रहित हुआ मन, ज्ञानकी सुवास से वासित होने से अन्य शुद्ध परमात्मस्वरूप मोक्ष के सुख में लग जाता है।

इष्टानिष्ट में राग तथा द्वेष करना यह मन रूपी वृक्ष की दो शाखायें हैं। इनका नाश करो। इससे मन रूप वृक्ष का सकल्प विकल्प रूप प्रवृत्ति बन्द होगी। एमा करने से ही ममत्व मोह रूप पानी से मन रूप वृक्ष के मूल का सिंचन बन्द हो जायगा। इस प्रकार मूल नष्ट होने से अकुर प्रगट ही नहीं होता।

मन का सकल्प विकल्प रूप व्यापार नष्ट होने से कर्म आस्रव का निरोध होता है और मन में सकल्प विकल्प उत्पन्न

ध्यान में कर्मों का बंध होता है। यदि आत्मा से विमुख होकर राग द्वेष में रहोगे तो ज्ञानावरण आदि कर्मों का नाश नहीं कर सकोगे इसलिए मन को शून्य करो। विषयों से विमुख होना अर्थात् मन में विषय विकार का न होने देना, यही मन को शून्य करना कहलाता है। इस प्रकार अपनी शुद्ध आत्मा में लगने से कर्मों पर विजय प्राप्त कर सकोगे ॥८७॥

जिसका मन राग द्वेष के कल्लोलों से शान्त होता है, वही इस आत्म तत्व को प्राप्त करता है। दूसरा प्रकार मनुष्य तत्व के अनुभवी नहीं बन सकते। विक्षेप हीन मन ही मनुष्य तत्व है। और विक्षेप वाला मन ही आत्मा की भ्रान्ति है।

यदि शुद्ध आत्मा की उपासना के बल से मन को निश्चल न किया जाय तो आते हुए कर्म नहीं रुक सकते। मन, वचन,काया की प्रवृत्ति से आते हुए कर्माणु एक मनस ही निरोध से रुक जाते हैं। मन की प्रवृत्ति बन्द होते ही अनेक जन्मों के उपार्जन किये हुए पूर्व के कर्म भी क्षीण हो जाते हैं तथा आत्मा का शुद्ध स्वरूप केवल ज्ञान प्रगट हो जाता है। इस प्रकार के लाभ होते हैं।

यदि द्रव्य कर्म तथा भाव कर्मों का जय करने की इच्छा हो तो मन संकल्प विकल्प हीन करना चाहिए। जैसे बादलों के बिखर जाने से सूर्य प्रगट होता है, वैसे ही विषयों से विमुख तथा शान्त हुए मनमें आत्मज्योति प्रगट होती है। आत्मा

सम्पूर्ण और निर्मल केवल ज्ञान की मूर्ति है। यह राग द्वेषादि दोष हीन मन द्वारा ही प्रगट हो सकता है।

मन, वचन काया के व्यापारों की शून्यता से आत्मा के शुद्ध सद्वास की शून्यता नहीं होती। शुभाशुभ, मन वचन काया की क्रियायें सङ्कल्प विकल्प रूप हैं। यह विभाव रूप होने से आत्मा के आगे शुभाशुभ पुद्गल को खड़ा करते हैं। इन शुभाशुभ क्रियाओं के न करने से योगी,—निर्विकल्प ध्यान में प्रविष्ट हो कर आत्मा के सत्य सुख को पाता है। इस निर्विकल्प स्थिति में आत्मा अविनाशी निरुपम आनन्द से भरपूर होता है। यह शुद्ध स्वभाव ही चैतन्य, ज्ञान, दर्शन और चारित्र है। ज्ञान आदि गुणों का चिन्तन अर्थात् विकल्प करना शुद्ध निर्विकल्प ध्यान नहीं पर वह चिन्तन अथवा भावना है। जैसे पानी के प्रयोग से किसी वस्तु में मिला हुआ नमक निकल जाता है इसी प्रकार मनको शुद्ध आत्म योग में लवलीन करनेसे आत्मा के साथ लगे हुए शुभाशुभ कर्म पृथक हो जाते हैं और निर्मल चिदानन्द स्वरूप परमात्म रूप प्रगट हो जाता है।

जैसे वृक्ष आपस में सङ्घर्षण खाने से अग्नि रूप हो जाते हैं वैसे आत्मा आत्मा की उपासना करनेसे अपने निजी परमात्म स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। मन के व्यापार को रोकने वाला परमात्मा का ध्यान ही है। मन और इन्द्रियों के व्यापार शान्त होते ही आत्मा ही परमात्मा बन जाता है। ध्यान से सब कुछ साध्य है।

---

## प्रकरण छठा ।

## कर्म की सत्ता तोड़ने का ज्ञान

कर्म का सत्ता के सन्मुख आत्मा अपने बल की परीक्षा दो प्रकार से कर सकता है। प्रथम कर्म के सामने उसके विरोधी कर्म सत्ता को रखना, दूसरा प्रकार यह है कि जब किस कर्म की सत्ता उदित हुई हो तब ऐसी प्रवृत्ति करना कि आत्मा के प्रदेश पर सुख दुःख की भावना को अस्ति न होने देना। इन दोनों में प्रथम प्रकार मुख्य है। जाग्रत आत्मा सुगमता से इस प्रवृत्ति को सम्पादन कर सकता है। दूसरे प्रकार को विशेषत ज्ञानी पुरुष ही व्यवहार में ला सकते हैं। इस नियम के अनुसार चलने वाले का आधार विशेषत अन्तरणीय बल पर अवलम्बित है।

प्रथम प्रकार जैसे शस्त्र के सामने शस्त्र फेंकना। ऐसे अशुभ के सामने शुभ उपस्थित करने की सत्ता को नाश करना है। दूसरे प्रकार में पूर्व जन्म के उदित कर्म को समभाव से-अबन्ध परिणाम से भोग कर क्षय करना है।

कर्म का नियम अचल है। इसलिए परिणाम को निष्फल करने के लिए अन्य कार्य के करने का अवकाश रहता है। एक नियम के सामने दूसरा विरोधी नियम उपस्थित करने से दोनों विरुद्ध सत्तायें एक दूसरे के सघर्षण से सत्व हीन हो जाती हैं। इस दशा में आत्मा अपने आगे का मार्ग साफ कर लेता है।

'निम नि"म का मत्ता म एक परिणाम उत्पन होता है उम
विरोधी परिणाम ना "यत्र करन का ज्ञान जिस मनुष्य को हो
है वह मनुष्य दुःख दुःख म बच सकता है । ऐसा विरो
सामग्री के ज्ञान के अभाव से मनुष्य नियम की मत्ता का
रहता है ।

मनुष्य कर्म के सामने लड़ नहीं सकता पर "मत्र नियम
का ज्ञान प्राप्त कर के एक नियम के बल के सामने दूसरे नि
का प्रयोग करके प्रथम नियम के बल को तोड़ सकता है । इस
यह आत्मा अपना भावी भविष्य अपनी इच्छानुसार बना स
है । अभ्यास और अनुभव से यह ज्ञान मिलता है ।

मन जड़ है । एक जड़ पदार्थ जिस नियम के आधीन
उसी नियम के आधीन मन है । जड़ द्रव्य का प्रत्येक का
कार्य कारण के नियमों के आधीन है ।

इसमे मन का प्रत्येक परिवर्तन उससे पूर्वगामी कार्य क
परिवर्तन के आधीन है । मनुष्य के अन्तःकरण में कई
विचार और वासनायें उत्पन्न होती हैं । तब नहीं यह
चाहिए कि यह पूर्ववर्ती कर्मों के परिणाम हैं । जिस
सामग्री में से जो विचार
"माम में वह उत्पन्न हो
अंश तक आत्मा स्वतन्त्र

अन्त करणमें विकार रूपके उत्पन्न होनेकी, योग्य सामग्री के मिल जाने के अनन्तर उस विकारके सम्बन्धमें मनुष्य निरुपाय है और परतन्त्र है। मन परतन्त्र है यह उसके पूर्वकृत कारणोंके वश में है। इससे जान सकते हैं कि जिसमें से जो उत्पन्न होना चाहिये उसके सम्बन्ध में हम सर्वथा निरुपाय हैं।

मन स्वतन्त्र नहीं पर आत्मा स्वतन्त्र है। मनकी काम क्रोधादि के कारण उत्पन्न हुई अथवा बदली हुई अवस्था के साथ रस पूर्वक न मिलकर तटस्थ भावसे मनकी अवस्थाओं का साक्षी रहनेसे आत्मा बन्धन से मुक्त होता है। यह कर्म बन्धन काटने वाला अमोघ शस्त्र है इसका उपयोग करनेवाला उच्चकोटि का आत्मा फिर कार्य कारण के आधार नहीं रहता। वह शरीर की और उसमें रही हुई मनकी सारी प्रवृत्तियों को वश में रखकर आत्म रूपमें निरन्तर समभावसे स्थिर रहता है।

मन चाहे युद्ध करे और किसी स्थान पर जाय तो भी उसका द्रष्टा आत्मा सदा सावधान रह सकता है। आत्मा जानता है कि मन, जिन स्थितियों के वश में होकर काम करता है वह उसके पूर्व के कारणों की वजह से हैं और आत्मा उसमें फेरफार नहीं कर सकता, परन्तु यदि आत्मा उसमें रस पूर्वक न मिले तो मन आगे नहीं बढ़ सकता। इस आत्मा का मनकी प्रवृत्तिके साथ मिलना या न मिलना उसीके आधीन है।

आत्मा की स्वतन्त्रता यही है कि वह प्रत्येक प्रबल से प्रबल विचार के गाढ़ आवेश को भी यदि चाहे तो थोड़े ही समय में

दमन कर सकता है। यही उसकी सत्ता है। विकार के उदय के समय यदि आत्मा तटस्थ रहे तो उदित कर्माणुओं के वहीं शिथिल होने से कार्य कारण की परम्परा टूट जाती है।

नवीन कारण का उत्पन्न होना वहीं से बन्द हो जाता है। परन्तु जो शरीर तथा मनकी प्रवृत्ति के साथ अभिमान को मिलाया जाय तो उस भावना का प्रवाह बढ़ता है। इससे आत्म रस को पोषण मिलता है। इसलिये हम बलवान् हैं। आत्मा के हित कारक विचारों में रहना प्रत्येक समय जो विचार उत्पन्न होते हों उनमें न मिलना और अपने आत्म विचार में दृढ़ रहना यह हमारे पुरुषार्थ का परम साध्य है और यह दृढ़ अभ्यास से प्राप्त होती है।

तात्पर्य कि शरीर की या मन की किसी प्रकार की हलका स्थिति में आत्मा का न होना, उस अवस्था का साक्षी बनकर रहना, प्रिय या अप्रिय सब प्रकार के भावों के उदयके प्रति समान दृष्टि रखना उदित भावों में रस पूर्वक मिलनेसे भिन्न भिन्न भावों को पोषण मिलता है वह पोषण बन्द हो जाता है।

अभिमान से मन जागृत रहता है, आत्मा से तिरस्कार पाकर भावों को तुरन्त ही मरना पड़ता है। इस प्रकार सर्व मन कारण एक के पीछे एक यथा समय उदित होकर पोषण के अभाव से मन्द होते हुए अन्तमें नाश हो जाते हैं। तब आत्मा स्वस्वरूप का अनुभव करता है।

कर्म से कर्म को तोड़ना और पुरुषार्थ करके कर्म के बहते प्रवाह को रोकना, इन दो मार्गों में ज्ञानियों को दूसरा मार्ग ही पसन्द है। प्रथम उपाय शुभ बन्धना का हेतु है। दूसरा उपाय निर्जरा का कारण है। अशुभ कर्म में बन्धन के स्थानपर, प्रथम मार्ग में शुभ कर्म का बन्ध होता है। यह परिणाम में हितकारी तो है परन्तु वास्तव में तो दूसरा मार्ग ही उपयोगी है।

आत्मा के मिले बिना किसी वासना या विकार की श्रेणी आगे नहीं बढ़ती। हम विस्मय कारक विचारों की उपेक्षा करना सीखना चाहिये। इस ज्ञान के स्थिर रहने से समभाव की वृत्ति स्थिर बनी रहती है। कैसे ही संयोग क्यों न हों उसमें मनकी समाधान वाली स्थिति को स्थिर रखने की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

---

## प्रकरण सातवा

## पुरुषार्थ

कर्म के नियम को विवेक पूर्वक प्रयोग में लाने से हम निश्चित परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। विचार के अनुसार ही चरित्र अथवा आचरण बनता है। किसी वस्तु की स्थिति को प्राप्त करने की प्रबल इच्छा आत्मा के लिये उस वस्तु की स्थिति प्राप्त करने का हेतु उपस्थित कर देती है।

पूर्व कर्म, यह अपनी इच्छा से पहले प्रयोग में लाया हुआ अपना बल है। इसके सम्मुख उसकी गति का विरोधी प्रवाह

रखने में इन दोनों के संघर्षण होने से बलवान प्रवाह निर्बल प्रवाह को अपनी दिशा में रखता है। इस पुरुषार्थ में कर्म को अनुकूल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। यदि पूर्व कर्म अनिष्ट हो तो उसको विरोधी दशा में फेरने का पुरुषार्थ करो। कर्मों की रचना नियमों की रचना है। एक नियम के सम्मुख दूसरे नियम को प्रेरणा में जैसे कि औरों के साथ कर्मों का मिलान से दोनों गतियों के भेद ज्ञान से उनका शुभाशुभ फल प्रकट होता हुआ रह जाता है।

यदि ज्ञान अधिक समय तक एक ही विषय के चिंतन के परिणाम को निवारण न कर सकता तो उसमें प्रचण्ड बल तैयार हो जाता है। उसके प्रबल प्रवाह को रोकने के लिये उस समय लगभग अशक्य सा हो जाता है। क्योंकि आत्मा इस समय चाहे जितना ही प्रबल पुरुषार्थ करे तो भी उस समय में पूर्व जन्म की मजबूत हुई हुई गहरी वासनाओं के वश में करके सब एसा बनना असम्भव है।

इस प्रकार के कर्मों को निकाचित्त अवश्य भोक्तव्य कहते हैं। ऐसा कर्म उस ही समय के पुरुषार्थ से नाश में नहीं आ सकता। पर पुरुषार्थ और भोग द्वारा धीरे धीरे नाश किया जा सकता है। उसमें विरुद्ध दशा में प्रयत्न करने में वह शिथिल अथवा पुरुषार्थ साध्य बन सकता है। पुरुषार्थ भी एक प्रकार का भोग ही है।

पुरुषार्थ करके कर्मों का क्षय करना ऐसा ही है जैसा कि उनका भोग करके क्षय करना। भोगने में कष्ट और परिश्रम होता है। पुरुषार्थ में भी इतनी ही सहनशीलता, धैर्य, उद्योग और शांति की आवश्यकता है। निर्बल जीव भोग द्वारा और वीर पुरुष पुरुषार्थ द्वारा किसी भी नियम को प्रयोग में लाकर पूर्व कर्म क्षय कर सकता है। पूर्व कर्म से पुरुषार्थ सदा प्रबल है। कई एक पुरुष कई बातों में निरस्ती और संयमी होते हैं पर उनको पूर्व भव की वासनाएं अमुक विषयों में प्रायः निर्बल बना देती हैं। ऐसे प्रसंग पर पूर्व कर्म के स्वरूप तथा बल का समझने वाले विवेकी मनुष्य उनकी ओर तिरस्कार के भाव से नहीं बल्कि क्षमा की दृष्टि से देखते हैं और उनको सम्मति देते हैं कि पूर्व के संस्कार के सामने अपनी सत्ता को प्रयोग में लाकर उनका पराभव करो। यदि ऐसा करने से उनका पुरुषार्थ तत्काल काम में न आवे तो समझना चाहिये कि जीव ने इन वासनाओं को पूर्व समय में इस प्रेम से सेवन किया है तथा इसके हृदय में यह ऐसे संस्कार दृढ़ हो गये हैं कि उन पर वर्तमान काल की बुद्धि विवेक की शक्ति विजय नहीं प्राप्त कर सकती। उसका वर्तमान समय का विवेक पवन वेग की तरह एक दिशा में गति करता है। तब उस मनुष्य का पूर्व समय का वासना शक्ति रूप बिजली उससे विरुद्ध दिशा में बड़े जोर से काम करता है। इसलिये उस जीव का वर्तमान समय का ज्ञान विवेक और बुद्धि का उदय उसके प्रबल संस्कार को नहीं दबा सकता।

अपने सम्मान को समान में चाहे जैसा ही धक्का पहुँचे उसकी भी अपेक्षा करता अपना विर्मोमुखी और तत्व ज्ञान का आरम्भ करता है। इस वासना के सम्बन्ध में एक बालक का लालना भी सयम और धैर्य नहीं रख सकता।

इस प्रसंग पर उसके आचरण पर हम नमा की दृष्टि रखना चाहिये। उसके थोड़े से दोष या निर्बल अंग को देख कर उसके अन्य चरित्र का भी आदर न करना ठीक नहीं। विश्व में कोई भी सर्वाङ्ग सम्पूर्ण नहीं। यद्यपि यह अपूर्ण है तथापि अपनी उन्नति के मार्ग पर है। इस निर्बल मनुष्यों में पूर्ण चरित्र की आशा कहाँ तक हो सकती है।

दूसरे के दोष को देख कर तुम्हें निराश न होना चाहिये। अब भी उसके सुधरने का अवकाश है यह दृष्टि रखनी चाहिये। सम दृष्टि से प्रत्येक प्रसंग को देखो। तुम को कुकर्म का अवकाश नहीं मिला इसलिये तुम अभी तक पवित्र हो। अवसर और अनुकूलता ने दोनों देव को मनुष्य और मनुष्य को राक्षस बना दिये हैं। प्राचीन शास्त्रों में ऐसे बहुत दृष्टान्त आते हैं कि पूर्ण ज्ञानी से कुछ न्यून ज्ञानी पुरुष भी किसी प्रलोभन के वश में होकर बहुत समय तक भ्रष्ट रहे। और ठोकरें लगने के पश्चात् ठिकाने आकर अपनी भूल सुधार ली।

भूले हुए का तिरस्कार करना योग्य नहीं। इसका कारण यह है कि इसमें इसका दोष नहीं है। पूर्व के प्रबल संस्कार उसको भूल

की दिशा में शीघ्रता से ले जा रहे हैं। इनके सम्मुख डट कर खड़े रहना, यह पुरुषार्थी आत्मा के लिये भी कठिन तथा कभी असम्भव हो जाता है।

दूसरी ओर विचार करने से मालूम होता है कि कई एक नीच, पूर्व कर्म के प्रबल संस्कार के बहाने से अपनी स्वच्छन्दता के आधीन होकर स्वपर को ठगते हैं। इसके समान दूसरा कोई घोर पाप नहीं। पुरुषार्थ को छोड़ कर पूर्व कर्म के संस्कारों को आगे रखते हैं। अपने दोषों का बोझा भूत काल की वासनाओं के माथे मढ़ते हैं। पर उनको इस पुरुषार्थ के त्याग की कुटिलता का नतीजा अवश्य मिलेगा।

मनुष्य का मोह कर्म का प्रकृति के सम्मुख सब सामर्थ्य से लड़ना चाहिये। यदि उसमें पराभव भी हो तो भी वहाँ अपनी निर्बलता के कारण अपना दोष नहीं है। इस युद्ध में अपने वीर्य को छुपाकर वासनाओं के वश में होना ही अधमता की ओर ले जाने वाला है। कर्मों का स्वाध्याय (पाठ) इतना तो अवश्य सिखाता है कि चाहे कैसे भी प्रबल प्रलोभन हों उनके साथ एक बार वीरता से युद्ध करने से वे शिथिल पड़ जाते हैं। यदि हम हार भी जायें तो भी उसमें हमारी आधी जीत है। क्योंकि यह हार, आगे को होने वाली जीत की सामग्री है। अपनी विजयी शक्ति की कसौटी जीत में नहीं पर प्रलोभनों के सामने डट कर खड़ा रहने में है। नीति की कसौटी प्रलोभनों के सामने प्रामाणिकता है। पवित्रता की कसौटी वासनाओं के

निमित्तों के मध्य में स्थिर रहने में है। अवसर, अनुकूलता और एकान्त में अपनी सच्ची प्रामाणिकता (ईमानदारी) को स्थिर रखने वाला ही वीर पुरुष है। सच्चा योगी वही है जो बस्ती में रहकर जनसमाज में भी पवित्रता को स्थिर रखे। पराक्रम की कसौटी, राग द्वेषादि अन्तराय शत्रुओं के नाश करने में है।

इसमें यह स्पष्ट है कि जहाँ हम किसी में अधूरापन देखें वहाँ एक दम अपनी सम्मति प्रगट करना अनुचित है। इस प्रकार पराजय पर पराजय पाने वाले के पतन का निर्णय करना अच्छा नहीं। वैसी ही अधम आत्मा का हमारा कर्तव्य यह है कि उसके कल्याण की इच्छा करें। और उसको यथार्थ मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें।

अपने हृदय में सहानुभूति, अनुकम्पावृत्ति, विश्वप्रेम आदि उत्तम वृत्तियों के उत्पन्न करने और उनको कार्य रूप में परिणत करने का जहाँ अवसर मिले वहाँ उनको कर्तव्य रूप में लाना चाहिये। कारण यह है कि आत्मा की उन्नति, इन्हीं का उन वृत्तियों को प्रयोग में लाने से होती है। वृत्तियों को जहाँ व्यवहार में लाने का प्रसंग मिलता हो वहाँ मन अपना अपना कर्म भोगता है, ऐसी मूर्खतापूर्ण नीति तत्व का आलम्बन करके व्यवहार न करना उचित नहीं।

सेवा, स्वार्पण, त्याग और बन्धुता द्वारा ही आत्मा का ऊर्ध्व गति का मार्ग खुलता है। प्रकृति चाहे किसी प्रकार काम

करती हो पर हमारा धर्म तो यही है कि हम दूसरे का दुःख जहाँ तक हो सके कम करने का प्रयत्न करें।

---

## प्रकरण अठावा।

### विचार और इच्छा के बलका उपयोग

मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा बनता है। इस ही प्रकार के निरन्तर विचारों में चरित्र बनता है। विचारों की टेव पड़ने के पीछे, न जानते हुए भी वे विचार अन्तःकरण में आजाते हैं। इस नियम का यह अभिप्राय है कि तुम जैसा विचार करोगे वैसा बनोगे।

तुमने अपने चरित्र में सद्गुण बढ़ाने हों और दुर्गुणों का नाश करना हो तो दुर्गुणों के विरोधी सद्गुणों का चिन्तन करो। अभिमान और लोभ को दूर करने के लिये नम्रता तथा त्याग का चित्र अपने हृदय पट पर कल्पना रूप लकीरों से लिखलो। इसके चिन्तन में लग जाओ गुणों का चिन्तन न कर सको तो उन गुणोंको धारण करने वाले किसी महापुरुष का चिन्तन करो। उसकी नम्रता, निरभिमानता सन्तोष और ममत्व त्याग का अनुकरण करो? अभिमान और लोभ के प्रबल कारणों के मध्य में रहना रखकर अडोल वृत्ति में रहो। महापुरुषों का चित्र तुम अपनी मानसिक दृष्टि के सामने खड़ा करो और उसको देखते रहो?

निमित्ता के मध्य में स्थिर रहना है। अवसर अनुकूलता और एकान्त में अपनी सत्ता प्रामाणिकता (ईमानदारी) को स्थिर रखने वाला ही वीर पुरुष है। सत्ता यागी वही है जो रमणी में रहकर वनवास की पवित्रता को स्थिर रखे। पराक्रम की कसौटी, राग द्वेषादि अन्तराय शत्रुओं के नाश करने में है।

इससे यह स्पष्ट है कि जहाँ हम किसी में अधूरा देखें वहाँ एक दम अपनी सम्मति प्रगट करना अनुचित है। इस प्रकार पराजय पर पराजय पाने वाले के बल का निर्णय करना भूलता नहीं। वैसा ही अधम आत्मा का हमारा कर्त्तव्य यही है कि उसके कल्याण की इच्छा करें। और उसको यथार्थ मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें।

अपने हृदय में सहानुभूति अनुकम्पावृत्ति निश्चप्रेम आदि उत्तम वृत्तियां के उत्पन्न करने और उनको कार्य रूप में परिणत करने का जहाँ अवसर मिले वहाँ उनको कर्त्तव्य रूप में लाना चाहिये। कारण यह है कि आत्मा की उन्नति, हृदय की उच्च वृत्तियों को प्रयोग में लाने से होता है। वृत्तियों का जहाँ कर्त्त व्यापार होने का प्रसंग मिलता हो वहाँ सब अपना अपना धर्म भोगते हैं, ऐसी मूर्खतापूर्ण नीति तत्त्व का आलम्बन करके कर्त्त व्यहीन बनना उचित नहीं।

सेवा, स्वार्पण, त्याग और बन्धुता द्वारा भी आत्मा का ऊर्ध्व गति का मार्ग खुलता है। प्रकृति चाहे किसी प्रकार काम

करती हो पर हमारा धर्म तो यही है कि हम दूसरे का दुःख जहाँ तक हो सके कम करने का प्रयत्न करें।

---

प्रकरण अठावां।

## विचार और इच्छा के बलका उपयोग

मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा बनता है। वह इस प्रकार निरन्तर विचार से ... बनता है। विचारों का ढेर पड़ने के पीछे, न जानते हुए भी वे विचार अन्तःकरण में आजाते हैं। इस नियम ... का आशय है कि तुम जैसा विचार करोगे वैसा बनोगे।

तुमने अपने चरित्र में सद्गुण प्राप्त हों और दुर्गुणों का नाश करना हो तो दुर्गुणों के विरोधी सद्गुणों का चिंतन करो। अभिमान और लोभ का त्याग करने के लिये नम्रता तथा त्याग का चित्र अपने हृदय पट पर कल्पना रूप लेखिनी से लिखलो। उसके ... में लग जाओ। गुण का चिन्तन न कर सको तो उस गुणको धारण करने वाले किसी महापुरुष का चिन्तन करो। उसकी नम्रता, निरभिमानता, सन्तोष और सर्वस्व त्याग का अनुकरण करो ? अभिमान और लोभ के प्रबल कारणों के मध्य में दृढ़ता रखकर अडोल वृत्ति में रहो। महापुरुषों का चित्र तुम अपनी मानसिक दृष्टि के सामने खड़ा करो और उसको देखते रहो ?

थोड़े दिनों के ही अभ्यास में तुम अपने स्वभाव में भारी परिवर्तन पाओगे। जब तक तुममें इन गुणों का समावेश पूरी तरह से न हो जाय तब तक निरन्तर महापुरुषों का ध्यान करते रहो और इसमें किसी प्रकार की रुकावट न होने दो। यह नियमित आचरण प्रयोग-इस अभ्यास के फल का उपयोगी अंग है और कर्म की सत्ता को तोड़ने का अमोघ शस्त्र है।

तुम्हें जिस गुण की आवश्यकता होवे उसका चित्र हृदय पर बना लो। उसका चिन्तन करो? जैसे जैसे तुम्हारा प्रेम इस गुण की ओर बढ़ेगा वैसे वैसे तुम गुणी बनोगे। इससे स्पष्ट है कि विचार से ही चरित्र बनता है।

वर्तमान दूषण भूतकाल के विचारों के परिपाक रूप हैं और वर्तमान विचारों से उनमें फेरफार हो सकता है। पूर्व के कर्म के सामने उनसे विरोधी प्रबल मन परिणाम को उनके समान रख कर उनका विनाश कर सकते हैं। एक सरल, परन्तु अमोघ नियम से थोड़े मनुष्यों को ही विश्राम है।

विचार में अद्भुत शक्ति उत्पन्न करने का सामर्थ्य रहता है। आत्मा अपनी अप्रगटित सत्ता की दृष्टि से परमात्मा ही है और इस में से ही यह परमात्म शक्ति बाहर आती है। मैं क्या हूँ? कैसे नियमों के आधीन हूँ? इन नियमों का किस प्रकार आचरण में लाने से स्वउन्नति साधी जा सकती है। इस ज्ञान से अपनी उन्नति अति शीघ्रता से हो सकती है चरित्रावरण

है

कर्म का बल वहां तक है जहां तक उसको दूर करने का साधन हाथ में नहीं है। एक परम योगी और दूसरा विषयी पामर जीव यह दोनों अपने विचारों के भेद में ही बनते हैं। मनुष्य इस विचार शक्ति को विवेक पूर्वक क्रिया में लाना सीखे तो उसकी सत्ता में रहने वाला परमात्म स्वरूप थोड़े समय में प्रगट हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

प्रत्येक इच्छा इच्छा के विषय को प्राप्त कर लेती है। इच्छा और संकल्प बल इन दोनों में यह भेद है। इच्छा बाह्य पदार्थों में आसक्त होती है, उसमें शुभाशुभ और योग्यायोग्य का विवेक नहीं होता। संकल्प बल पवित्र अनुभव के बल से, योग्यायोग्य का निर्णय करके कल्याण के मार्ग में प्रवर्तित करता है। एक प्रबल चरित्रवान पुरुष और दूसरे निर्बल पामर जीव में इतना ही भेद है कि यह निर्बल आत्मा तुच्छ प्रलोभनों से अपना निश्चित मार्ग छोड़ कर बाह्य आकर्षणों में फिसल जाता है। सबल आत्मा अपने आन्तरीय अनुभव संकल्प बल और विवेक से निश्चित किये मार्ग में आग्रह पूर्वक प्रवृत्त रहता है।

निर्बल मनुष्य के ऊपर पूरा विश्वास नहीं रक्खा जा सकता और जिन कामों में प्रलोभन और आकर्षण विशेष हो वहाँ तो वह मनुष्य निस्सार हो है। परन्तु प्रबल संकल्पवान मनुष्य ऐसे सबल नियमों के मध्य में एक जैसा दृढ़ रहता है। प्रत्येक अच्छी या बुरी इच्छा अमुक प्रकार के कर्म को उत्पन्न करती है और उस

कर्म के परिपाक के समय में आत्मा को निश्चित फल मिलता है
यह नियम कर्म बांधने में और कर्म तोडने में मन में उपयो
स्थान लेता है । मनुष्य को किसी प्रकार की इच्छा करने
पहले बडे विवेक की आवश्यकता है। उसको मालूम नहीं है
इस प्रबल इच्छा द्वारा, वह शक्ति को किस ओर लगा रहा
उसके विकास के समय यह इच्छा महा विघ्न रूप होकर मध्य
खडी रहती है प्रबल वासना वाली इच्छा उसके लिए वै
संयोग उपस्थित किये बिना नहीं रहती। उससे असाधारण पुरु
करता कर वह इच्छा उसके इष्ट भाव को पूरा कर लेता
परन्तु इसके प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा की जो अवस्था
है वह ज्ञान दृष्टि द्वारा देखने में महान दुःख और परिताप उत्प
करती है। यह इच्छित विषय की प्राप्ति आत्म विकास में म
गार होने के स्थान में विपरीत और विकारी होता है । व
वह मनुष्य भोग का एक कीडा ही बन जाता है।

यश, कीर्ति और ख्याति की लालसा भी मनुष्य को पा
बना लेती है। बहुत से मनुष्य उसका गुण गाये लोग में वाह
हों, और सब का ध्यान भी उसी की ओर आकर्षित हो,
इच्छायें करता है पर उसको भान नहीं होता कि इस अभि
का बोझा उठाना कितना दुर्भर है।

यश की लालसा के लिए अन्य मनुष्यों के अभिप्राय
मान देकर अपनी स्वतन्त्रता खोना पडती है। अपनी इच्छा वि

सचे अभिप्राय को त्याकर लोगो से यश खरीदने के लिये अपना प्यारा धन व्यय करना पड़ता है। कीर्ति रूपी भयकर पिशाच को स्थिर करने के लिये हर समय हानि उठानी पड़ती है अपने बड़प्पन का घड़ा निरन्तर गले में बाधना पड़ता है। ऐसी इच्छा के फल भोगे विना उससे छुटकारा नहीं होता।

सची कीर्ति तो मनुष्य के सदाचरण के पीछे रहती है। उसके सत्कर्मों के पीछे वह स्वयमेव आता है। यह सत्कर्म किसी कीर्ति का प्राप्त करने के लिये नहीं करने चाहियें। इस रीति की इच्छा अपनी स्वतन्त्रता के ऊपर अंकुश रखती है। यह ठीक है कि उत्तम कार्य करने की इच्छा करो पर सत्कर्म कीर्ति प्राप्त करने क लिये न करो। कीर्ति लोगों निन्दावाली एक शाकिनी है। उसकी कुछ निन्दायें तुम्हारा गुण गाती हैं और दूसरी निन्दा करता है। तुम अपनी कीर्ति के लिये किस किस को प्रसन्न कर सकते हो। हर एक का अभिप्राय एक समान हो जाय इसके लिये तुम्हें अपनी स्वतन्त्रता खोनी ठीक नहीं। विवेक रहित इच्छा हानिकारक है। तुम्हारी प्रवृत्ति ऐसी नहा होनी चाहिये जो कि तुम्हें अधोगति के मार्ग में ले जाने वाली हो, किन्तु आत्मा के अनन्त गुणों को प्राप्त करने के मार्ग में प्रकाश रूप होनी चाहिये।

आगे बढ़ने वाले मनुष्यों को शुभ इच्छाओं का त्याग नहीं करना चाहिये। मनुष्य की इच्छाओं का बल ही आगे बढ़ाता है। एक इच्छा के विषय की प्राप्ति होते ही दूसरी इच्छा से प्रेरित होकर आगे को चलता है। जहाँ आत्मा अपनी पिछली प्रवृत्ति को

शुद्धतर करना बन्द कर देता है वहाँ ही से इसका विनाश अर्थात् अधः पतन आरम्भ हो जाता है। कारण यह है कि प्रवृत्ति का मूल हेतु, आत्मा की पूर्णता प्रकट करना है। पूर्णता प्राप्त करने से पहले इच्छा को त्यागना यह प्रगति के रोकने के समान है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि तुम को प्रत्येक इच्छा से पूर्व बहुत विवेक से काम लेना चाहिये।

इच्छा के प्रबल शस्त्र का उपयोग अपने घात करने के लिये नहीं, किन्तु रक्षा करने के लिये उचित है। इच्छा [illegible] उत्पन्न शुभाशुभ कर्मों के अनुभव किये बिना जीव का छुटकारा नहीं। विषय लोलुप आत्मा, बसन्त की मधुमक्खिका की तरह एक पुष्प से दूसरे और दूसरे से तीसरे पुष्प का रस चूसने के लिये भ्रमण करता है। उसको यह खबर नहीं कि इसका समुद्र यह स्वयं ही है। यह पुष्प तो थोड़े समय के पश्चात् कुम्हलाकर मुरझा जायेंगे इसलिये हे जीव! यदि तू विवेकवती बुद्धि का बराबर उपयोग करेगा तो जीवन का अन्तिम मर्म और रहस्य समझ सकेगा।

---

## प्रकरण नवमा

## पवित्रता

पवित्रता के बिना किसी प्रकार भी सच्चा आत्म विकास नहीं होता। आत्मा, मन वचन और शरीर के विकारों के वशवर्ती न बने किन्तु मन वचन शरीर आत्मा के आधीन रहकर यथोचि

प्रवृत्ति कर सकें इसी का नाम पवित्रता है। आत्म-मार्ग में आगे बढ़ने की इच्छा रखने वाले जीवों के लिय यह पवित्रता मुख्य साधन है।

सामान्य मनुष्यों के जीवन बहुधा इन्द्रियों के आधीन रहते हैं वे इन्द्रियों के विषयों में रमे रहते हैं। वे जहाँ जायें उनकी ओर ही उनका ध्यान आकर्षित होता है। य विकार और तुच्छ इच्छाओं के वशमें रहतहैं तथा परिणाम स्वरूप इष्टानिष्ट विषयों की प्राप्ति अप्राप्ति म विविध दुःखों का अनुभव करते हुए अनेक जन्मों के अनुभवों का साथ लेकर संसार चक्र म घूमते रहते हैं। अनेक अच्छे या बुरे अनुभवों के अन्त म उनक मन का विकास होता है। जब वे मन में रमण करते हैं तब उन्हें इन्द्रिय जन्य सुख की अपेक्षा मानसिक सुख अधिक प्रिय लगता है। मन क विशेष अनुभवों के अन्त म उनको आत्मा का सुख और भी अधिक रुचिकर होता है। तब मन के विकल्प जाल में घबरा कर वह उदासीन हो जाता है।

इस आत्म सुख को प्राप्त करने के प्रसंग में, जीव को मन तथा इन्द्रियों ने पूर्वाभ्यास म जो तुच्छ संस्कारों का संग्रह किया होता है उसके साथ युद्ध करना पड़ता है प्रबल इच्छा शक्ति के बल से, अन्ततः इन वासनाओं का पराजय होता है और आत्मा विजय पाता है। इस युद्ध के प्रसंग में इन प्राचीन संस्कारों वाली वासनाओं तथा कामनाओं का कितना भारी बल सत्ता मे संगृहीत है यह विचार म आता है। मन की शक्ति कितनी प्रबल है इसका

ज्ञान इस समय होता है। जिन संस्कारों को नष्ट हुआ समझता था, वे छिपे हुए थे। नष्ट न थे। उसे अब पता लगता है कि जिन लागणियों के आवेश को वह अपने आधीन समझता था वे सहज निमित्त पाते ही कैसे प्रबल जोर से अकस्मात प्रकट हो जाते हैं। उसको मन ज्ञान होता है कि इन वृत्तियों का नाश बहुत दीर्घ काल में होता है। मन तथा इन्द्रियों की पराधीनता से छूटना कोई सामान्य बात नहीं।

इन्द्रियाँ तथा मन ने जब समय से अमुक प्रकार का जो विरुद्ध गति प्राप्त की है, उसको वेग बदलने में नवीन वेग देना पड़ता है उस समय बहुत बल लगाना पड़ता है। उच्छृङ्खल मन तथा इन्द्रियें अपनी इच्छा के विरुद्ध वर्तती हैं। आधीन करने का प्रयत्न करते हुए भी वे ऐसे विषम प्रसंग में, थोड़ा सा निमित्त मिलते ही प्रबल होकर जीव की इच्छा के विरुद्ध प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऐसे मनुष्य स्वभाव को शुद्ध करने के लिए उत्साह के साथ नियमपूर्वक काम करने की आवश्यकता है। विपरीत गति को सुधारने का उपाय यह है कि इतने शुभ विचारों को मन में एकत्रित करो कि अशुभ विचारों को मन में रहने का स्थान ही न मिले

इन्द्रिय के विकारों का मूल स्थान मन है। मन को किस शुभ विचार, पवित्र जाप और किसी सद्गुण के आधार में लगाया जावे और वह अभ्यास निरन्तर उत्साह के साथ दीर्

काल तक करने में आवे तब यह अपवित्रता और अशुद्धि, पवित्रता के रूप में बदल सकती है। एवं शुभ विचार यदि मन में अच्छी तरह एकत्रित रहा करें तो फिर अशुभ विचारों का नवीन उत्पन्न होना बन्द हो जाता है। इनको नवीन पोषण न मिलने से पूर्व के संस्कार नष्ट हो जाते हैं या शुभ में परिवर्तित हो जाते हैं। यहाँ विशेष सावधानता यह रखनी चाहिये कि इसमें नीच संगति और विपरीत संयोगों से, जाव का बहुत दूर रहना चाहिये। एक मनुष्य कामवासना व दुर्गुणों के ऊपर विजय पाने के लिए प्रयत्न करता है। वह समझता है कि अब मेरे विचार नहीं उठते अथवा वासना मर गई है। परन्तु एकान्तवास में कामवासनानुकूल संयोग मिलते ही उन वासनाओं का उदय हो जाता है और मन के ऊपर संयम नहीं रहता।

उस समय ऐसा मालूम होता है कि ओहो! यह क्या आश्चर्य हुआ कि आज तक के परिश्रम पर पानी फिर गया। मुझे थोड़ा भी लाभ न हुआ। बात भी ठीक है, अग्नि की एक ही चिनगारी जहाँ अग्नि को जलाने का गुण रखता है, वहाँ उसमें ग्राम के ग्राम जलाने की भी सत्ता है। ऐसे ही दुर्गुण का बीज भी यदि सत्ता में पड़ा हो तो उसका तनिक भी विश्वास न करना चाहिये।

जब तक अपनी वासना को प्रत्येक प्रसंग पर नाश कर सकने अथवा रूपान्तर में पलटने की प्रबल शक्ति अपने में प्रकट

न हो तब तक यथा तथा ऐसे विषयों की वासना को पोषण तथा उत्तेजन करने वाले द्रव्यों से दूर रहना चाहिये इसमें ही लाभ है। जो जीव विषय वासना को हटाना चाहते हैं उनको काम के उत्तेजक नावल, कथा, शृंगार रसपूर्ण वार्ता विषय रस के पोषक नाटक और विषयों को जागृत करने वाले मनुष्यों के सहवास से दूर रहना चाहिये। गरम आहार कम करना चाहिये।

स्त्री पुरुषों के सहवास वाले स्थान में और उनके समीप न रहना चाहिये और न इस प्रकार का वार्तालाप करो जिससे ऐसे दृश्यों को ध्यान में न लाओ। पूर्व के विषयों के अनुभव को स्मरण में न लाओ और विषयों के उत्तेजक पदार्थों का भोग उपभोग त्यागो।

मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ हर समय एक समान नहीं रहतीं। जब नीच वृत्तियों का बल कम होता है तब उच्च वृत्तियों का उत्पन्न करने का काम सुगम होता है। ऐसे प्रसंग के अनुकूल ही और नीच वृत्तियों की प्रबलता का उदय होते ही उन वृत्तियों के पोषक समागमों के मिलते ही, मनुष्य अपने मन की स्थिरता और स्वाधीनता खो बैठता है। ऐसे प्रसंग पर इष्ट देव के स्मरण करने, पवित्र पुरुषों को याद करने, उनके मनोबल का प्रबल और पवित्र चित्र हृदय में लाने से और उस स्थान का त्याग करके किसी सत्पुरुष के समागम में जाने से उन भावनाओं का प्रवाह बदल जाता है। तुच्छ वृत्तियों का बल कम हो जाता है और मन की निर्मलता को पोषण मिलने लगता है।

यदि वासनाओं के ऊपर विजय पाना हो तो अपवित्र विचार उत्पन्न करने और ऐसे सहवास प्राप्त करने में किन किन दुःखों की सम्भावना रही हुई है इसका भली प्रकार विचार करो। जब जब ऐसी तुच्छ भावनायें उठने लगें तब तब तत्काल मन को उन विचारों की विरुद्ध दिशा में फिरा देना चाहिये और उससे अलग जाति के विचार करने का आरम्भ कर देना चाहिये। ऐसे प्रसंग पर इससे अधिक लाभदायक कोई दूसरा मार्ग नहीं।

जहाँ पवित्रता है वहाँ ही आत्मिकबल प्रकट होता है। जो मनुष्य, शरीर मन और नीति में जितना निर्बल है उतनी ही उसके ऊपर तुच्छ स्वभाव की सत्ता राज्य करती है।

पवित्रता ही आत्मिक बल, अमरत्व, प्रकाश, शांति और अनन्त शक्तियों का मार्ग है।

जहाँ पवित्रता रहती है वहाँ प्रभुता भी रहती है। मनुष्यो, तुम पवित्र बनो। यदि पवित्र न बनोगे तो दुःख सहन करने के लिये कटिबद्ध होना होगा।

---

## प्रकरण दसवां

### "त्याग"

मनुष्य जहाँ तक इन्द्रियों को शान्त करता है और मन को पवित्र तथा स्थिर करता है वहाँ तक वह शुद्ध आत्मा का अनुभव कर सकता है॥ १॥

शुभाशुभ कर्म करने में जीव उसकी सत्ता में से अमुक शरीर के आकारों को धारण करता है। उसमें जीवन प्रकट होता है और शरीरों का नाश होने से नवीन नवीन शरीर ग्रहण करके अनेक अनुभवों के साथ जीवन विकास को पाता जाता है॥ २॥

जीव प्रकृति में अर्थात् पुद्गल में प्रकट होता है। अपने समीप के पुद्गलों को आकर्षित करता है और उनसे आकार रचता है। जीवन के कर्तव्य करता हुआ यह शरीर घिसता है। उसके परमाणु बिखर जाते हैं। उनके स्थान पर नवीन परमाणु ग्रहण करके, जीव बार बार नवीन शरीर रचता है।

आकार घिसता है नवीन परमाणु उसमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार बार बार पुद्गल ग्रहण करके नवीन शरीर रचने में और उसको स्थिर रखने में परमाणुओं का उपयोग करके जीवन परम्परा आगे बढ़ता है। नवीन परमाणु लिये बिना आकार दीर्घ समय तक स्थिर नहीं रह सकता। प्रवृत्ति के मार्ग में परिणमन करना और नित का बनाना यह अपना विकास माना जाता है।

निवृत्ति मार्ग की ओर बढ़ते समय उसके प्रतिकूल अनुभव होता है। जीवन, ग्रहण करने से नहीं किन्तु त्याग से स्थिर रह सकता है। परस्पर त्याग और ग्रहण करने से, तथा परस्पर के आधार के नियम को स्वीकार करने से सब जीव, जीवन पूरा करते हैं अर्थात् अस्तित्व रखते हैं।

।इस आकार वाले देहधारी समाज में हम अकेले नहीं रह सकते। दूसरे पुद्गल परमाणु ग्रहण करके वनस्पति आदि शरीरों का उपभोग करके ऋणी हुए विना हम अपने शरीर को स्थिर नहीं रख सकते। इस ऋण को हमने, ग्रहण की हुई किसी भी वस्तुका, दूसरे जीवों का बचाव के लिये, उनका भला करने के लिये, अथवा स्थिर रखने के लिये भोग करके उतारना है।

इसका त्याग किये बिना अर्थात भाग किये बिना मनुष्य इस साकार देह धारी बिना न रह सकता। इस सार निवास का मूल त्याग में है। इस त्याग के परिणाम में सब शुभ वस्तुएं प्राप्त होती हैं ज्ञान का अभ्यास करके, गुरु से ज्ञान लेकर इसका हम त्याग भी कर सकते हैं। दूसरों को इसका लाभ पहुँचा सकते हैं और इसी प्रकार त्याग करके हम आगे बढ़ सकते हैं।

दूसरों की सहायता करने तथा उन्नत करने में जो जो काम और त्याग करने पड़ते हैं उन उन कामों को छोड़ कर शेष सब कामों में जीव अपने आपको बन्धन में डालता है। कर्म के फल की इच्छा मनुष्यों को कर्म के बन्धन में बाँधती है। यदि इन बन्धनों से मुक्त रहना है तो कर्मों के फल का भाग देना सीखो।

सत्कार्य के फल का उपभोग दूसरों की सहायता के लिये करो। उस सहायता के फल के बदले की आशा किये बिना परमार्थ के लिये कार्य करो। कर्म फल त्यागने से नवीन कर्मों से बन्ध नहीं होता। आत्मा की ऐसी निर्लेप अबन्धक

पूर्व कर्मों की निर्जरा होकर वे नष्ट हो जाते हैं और ऐसा होने से आत्मा अपने सत् स्वरूप में प्रकाशित हो जाता है।

प्रवृत्ति मार्ग की जहाँ समाप्ति होती है और अपने आत्मा की ओर आना होता है वहाँ से ही निवृत्ति मार्ग का आरम्भ होता है।

इस निवृत्ति मार्ग में प्रवेश करते समय सब वस्तुओं का और उनकी आसक्ति का त्याग करना पड़ता है। उस समय जीव को बहुत दुःख होता है। कारण यह कि निवृत्ति के मार्ग की शान्ति का आनन्द अभी उसे मिला नहीं और प्रवृत्ति का त्याग करना पड़ता है। अतः इस निराधार मार्ग पर चलना कठिन प्रतीत होता है। तो भी हे आत्मन्! तू इस समय घबरा नहीं। शाश्वत सत्य के साथ सम्बन्ध करने और उसको प्रकट करने के लिये तुम्हें क्षणिक वस्तुओं को त्यागना चाहिये। इन क्षणिक वस्तुओं का सम्बन्ध छोड़ना चाहिये। इस स्थिति में आये बिना किसी दूसरे तट पर पहुँच नहीं सकते। दूसरे तट पर पहुँचने के पश्चात् तुम्हें यह जीवन आनन्दमय प्रतीत होगा।

जो अपना व्यावहारिक जीवन चाहते हैं वे आत्मिक जीवन खोते हैं। और जो इस व्यावहारिक जीवन का त्यागते हैं वे ही आत्मा के अनन्त जीवन में स्थान पाने के योग्य होते हैं।

जहाँ तक इन तुच्छ पदार्थों के साथ सम्बन्ध न छूटे वहाँ तक उच्च जीवन का अनुभव कभी नहीं हो सकता। प्रकृति जन्य जड़ पौद्गलिक् जीवन और आध्यात्मिक जीवन के मध्य

म कोई दूसरा मार्ग नहीं। इसके मध्य में पड़े हुये माया जाल को पार करना चाहिये। यहाँ तुम्हे अपन आप पर ही आधार रखना पड़ेगा।

मायानी आकार वाले सारे आधार छोड़ देने पड़ेंगे। इस समय सब कुछ शून्य और निराधार सा होगा। तब शान्त जीवन वाले शून्य स्थान के बिना दूसरा कोई स्थान देखने में नहीं आयगा। तब ही इस जीवन की शून्यता में स शाश्वत प्रभु प्रकट होंगे।

जिस जिसने इस विनश्वर विश्व के जड़ प्रकृतिमय माया जाल की सीढ़ियों को पार करने का प्रयत्न किया है वह ही परम शान्त अनन्त और अविचल स्थान पर आकर स्थिरता से रहते हैं।

जो भूतकाल में आत्मिक-जीवन की ऐसी स्थिति में पहुँचे थे उन सबको ऐसा ही अनुभव हुआ था। देहादि के संग लगी हुई आकार वाली हलकी वासनाओं, भावनाओं का त्याग किये बिना कभी भी आत्म-ज्योति प्रकट नहीं होती।

तुच्छ स्वभाव को जला देना ही चाहिये। यह काम स्वत करने का है। स्वय ही ज्ञानरूप अग्नि को प्रदीप्त कर उसमें इसका होम कर देना चाहिये।

इस जड़ वस्तु की आसक्ति वाले वासनामय जीवन का त्याग करो। सर्वस्व का त्याग करने म जहां तक तुमको मालूम हो वहाँ तक कोई भी वस्तु बची न रहे। आत्मा के ऊपर पूर्ण विश्वास

रखो ? इस सर्वस्व त्याग ने, अनेक जीवों को अनन्त जीवन में मिला दिया है।

जीवन लेने में नहीं पर त्यागने में है। स्वामित्व प्राप्त करने में नहीं किन्तु अपने पास जो कुछ था हो उसके दे देने में ही पूर्ण जीवन है। श्रद्धा रखो ! दिव्य जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिये सर्वस्व त्याग ही एक मार्ग है।

शरीर की मर्यादा है आत्मा की मर्यादा नहीं, इसलिये शरीर ग्रहण करके जीवित है और आत्मा त्याग करके जीवित है। इस लिये जितना मायावी आकृतियों की आसक्ति से रहित होंगे उतनी दिव्य पूर्णता अपने अन्दर प्रगट होगी। निवृत्ति मार्ग का मुख्य लक्षण त्याग है। ग्रहण करना यह इन जड़ आकृतियों में बने हुए शरीर में बार बार आने जाने का लक्षण है। देते रहो देने से ही जी सकते हो। निवृत्ति मार्ग में त्याग ही सहायक भूमि बनकर आत्मा को आगे बढ़ाता है जहाँ तक इस शरीर के साथ रहना मानकर साथ उसके साथ लिपटा रहा है वहां तक त्याग करने में जीव को भय और उद्वेग होता है। वहां तक ही त्याग दुःख रूप मालूम होता है। परन्तु जब विविध आकारों में पड़े हुए आत्मा का स्मरण, अनुभव करने का यह जीव प्रयत्न करता है तब त्याग का आनन्द रूप भान होता है। त्याग में ही आनन्द का भरा झरना है।

अध्यात्म जीवन का प्रकाश क्षणभर भी इस जीव के अनुभव में आवे तो इस, बारम्बार पलटते हुए संसार का रहस्य

समझ में आ जाय। और जिस जगत को यह 'अमूल्य' वस्तु समझता है उसकी असारता समझनी भी कठिन न होगी।

जो मनुष्य, आकार में जीता है वह क्षण क्षण में मरता है क्योंकि आकार क्षण क्षण में बदलता है। इसलिये ही वह मनुष्य मरणाधीन है। जो मनुष्य आत्मा में जाता है वह अमर होता है। क्योंकि यही सच्चा जीवन है।

इस जीवन को स्थिर रखने के लिये हलके स्वभाव वाली वासनाओं की उपेक्षा करो। इनका सुनना भी बन्द करो। जब तक आत्मिक जीवन में जीना सीखो तब तक इसी प्रकार जीवन व्यतीत करने का प्रण करो। आत्मिक जीवन नित्य प्रकट होता रहे इसके लिये, हलके तुच्छ मायावी पदार्थों का त्याग करो। यही मुमुक्षु का जीवन है। स्वार्थ को सर्वथा भूल जाओ? स्वार्थ त्याग तुम्हारा स्वाभाविक जीवन बन जाय इसके लिए छोटे से छोटे स्वार्थ त्याग से आरम्भ कर सर्वस्व त्याग की अन्तिम चोटी तक पहुँच जाओ। एक हाथ में संकल्प रूपी बल का हथौड़ा लो दूसरे में विचार रूपी छैनी पकड़ कर जीवन मूर्ति के कारीगर बनो?

जैसे कारीगर पत्थर में रहा हुआ मूर्ति को निकालने के लिए अपने हथौड़े और छैनी से (जो इसमें विघ्न और रुकावट होती है उनको निकाल कर बाहर फेंक कर) मूर्ति को बाहर निकालता है, वैसे ही जहां तक तुम्हारे अन्दर रहा हुआ प्रभु देखने में न आये वहाँ तक उसके आवरण करने वाली शरीर तथा

धूल रूपी भावनाओं को बाहर निकाल दो। ऐसा करने से इस मनुष्य जीवन में ही दिव्य प्रभु सुन्दर रूप में प्रगट होंगे॥

---

## प्रकरण ग्यारहवां

## दिशा का परिवर्तन करो

बन्धन से मुक्त होने के लिये ज्ञानकी आवश्यकता है। किसी तरह भी हो पर तुम बंधे हुए हो। इस बंधन का कारण समझो। फिर बन्धन तोड़ने का साधन तयार करके उस पूरा बल से तोड़ने का प्रयत्न करो।

जीवको धनादि से कभी सन्तोष नहीं आया। इसका कारण यह है कि जिस वस्तु का वह संग्रह करना चाहता है उस वस्तु के स्वभाव में अपूर्णता है। जिसमें पूर्णता ही है ऐसे आत्म प्रकाश के प्रकट होने से ही सन्तोष या शांति मिलती। अभी तक जीव का जीवन जड़ प्रकृति के अनुसार ही था इसको अब आत्मा के अनुसार बनाओ? जीव ने अभी तक इस भौतिक माया को अपने हृदय में मुख्य स्थान दिया हुआ था, अब आत्मा को हृदय में मुख्य स्थान दो। अपने कार्य की दिशा बदलो और उनके सहायकों का परिवर्तन करो माया के लिये तूने माया का ही मूल्य दिया है अब आत्मा के लिये आत्म परायण वाले शुद्ध उपयोग का मूल्य दो। अपने जीवन के रोम रोम में और क्षण क्षण में उपयोग को स्थान दो। इस मायावी जगत में और आत्मा के शुद्ध

स्वरूप म भूमि आकाश का अन्तर है। प्रकाश और अन्धका जैसा अन्तर है। छोटी लडकिया अपने मट्टी के घर बनाकर गुड्डे गुड्डियों के विवाह का खेल खलती हैं इतनी ही कीमत इस विश्व की माया की है। तुम्हारी सगृहीत वस्तुओं का इससे अधिक मूल्य नहीं हो सकता।

अपना दृष्टिकोण बदलो ? इससे तुमको कुछ और भी मालूम होगा। यह विश्व जो तुमको अनुकूल प्रतीत होता है उसकी असारता का तुम्हें ज्ञान हो जायगा। आत्मा ही तुम्हारी भूख मिटायगा अर्थात् सच्ची शांति देगा। इन्द्रियों के विषयों मे सन्तोष नहीं होगा। ये अन्त में विरस मालूम पड़ेंगे। इनका आनन्द शोक के रूपमें बदल जायगा। विषयों में आसक्त रहने वाले मनुष्यों को हैरान होते, दुख सहते, निन्दा पाते, दरिद्रता भोगते और निराश होते देखकर तुम इनसे कुछ पाठ सीखो तो अच्छा है। तुम अपना मार्ग बदलो ठीक है अन्यथा ठोकर खाकर पाठ सीखना पड़ेगा। विषयों की क्षणिक रमणता इनके उपभोग के बाद होते हुए दुःख का अनुभव तथा इनमें से अन्यान्य क्षण म प्रगट होती हुई दुःख की लालसाओं पर विचार करो ? ओ अनन्त शक्तिमान आत्मा ! अब तू अपने स्वरूप की तर्फ वापिस लौट ? प्रवृत्ति माग से निवृत्ति माग के मन्दिर की तर्फ आ। वहां तो सदा वहां शांति आनन्द, प्रेम, ज्ञान और अनन्त जीवन आदि कैसी सुन्दर सामग्रियां हैं। ऐसा होते हुए तू किसलिये बाहर भटकता है। बात

मय है। दुःख सहन किये बिना सुख नहीं मिलता और न दुःख बिना सुख का अनुभव होता है। दुःख बिना सच्चे मार्ग पर नहीं चल सकता। दुःख के बाद मिला हुआ सुख विशेष रसमय होता है। अनुभव में और स्वयं अपने उद्यम से मिला हुआ भाग बहुत ही अमूल्य मालूम होता है। दुःख के बिना सुख की कीमत नहीं मालूम होती। तपन के बिना शीतलता का भान नहीं होता। आनन्द! तो बाह्य विषयों मायावी साधनों से व्याकुल हो गया हो तो अन्तरीय भावना का तप बापिस आ? जिस समय ये मायिक वस्तुएं सुख आनन्द देना बन्द करेंगी उसी समय तेरे लिये अन्तरीय आत्म द्वार खुल जावेगा और प्रभु दर्शन का प्रकाश आत्मा की जगमगाती ज्योति तेरे हृदय में प्रगट होने लगेगा। यह प्रभु का पन्थ है इस ओर चलना आरम्भ कर? यही प्रभु के मन्दिर का मार्ग है।

प्रभु बाहर किसी स्थान पर नहीं बैठे हैं वो तेरे सच्चे आत्म भाव में विराजमान हैं। तेरे हृदय में ही प्रगट होंगे। तेरे पास ही हैं। वस्तुतः वह तो तू ही है। ऐसा समझ कर स्वस्वरूप में रहते हुए तू जीवन को व्यतीत करने का निश्चय कर?

यह अमूल्य अवसर न खो देना। अज्ञान रात्री बीत गई है। आत्म प्रकाश का प्रभात शुरू हो गया है। अरुणोदय के पीछे सूर्य का उदय होता है। अन्त अन्तर्दृष्टि खोलो? इस प्रकार निद्रा में कब तक पड़ा रहेगा।

तुम्हारा अंत करण जिस काम का निषेध करे वह न करो ? "इस मार्ग पर मत चलना" इस प्रकार अन्त करण से आती हुई आवाज को जीवित प्रभु का आवाज समझो। उसके कहने पर चलो। अपनी दृष्टि को विशाल बनाओ। इस मायावी मार्ग तथा प्रभु मार्ग में जो दीवार खड़ी है उसको तोड़ दो और उसको पार करके आगे चले जाओ।

ओ मुसाफिर! चाहे जितनी ही कठिनाइयां क्यों न आवें तो भी तू इन मायावी विषयों के विषमिश्रित मधुर रस को छोड़दे। अपनी विश्व व्यापी इच्छाओं का त्याग कर।

स्नेह से बन्धन तोड़ दे। इस मायावी दीवार के पीछे ही सीधा राजमार्ग है। वहाँ से तुम्हारे आगे बढ़ने का सरल मार्ग प्रभुद्वार की ओर जाता है। तू इस दीवार को उल्लंघन किये बिना आगे नहीं जा सकेगा। कई एक जीव यहाँ आकर रुक जाते हैं। कई जीव तो यहाँ से अपनी आगे बढ़ने की असमर्थता जानकर पीछे लौटे आते हैं। परन्तु घबरा मत। अपने विचारों को शुद्ध और दृढ़ बना। मायावी विचारों की सरलता-मिलावट-को दूर कर।

यह दृढ़ निश्चय करो कि 'मैं अनन्त शक्तिमान आत्मा हूँ। सारे विश्व को हिला देने का मुझ में बल है। माया दूर हो तो मुझे मार्ग मिलना ही चाहिये। इन विचारों में तल्लीन हो, दूसरे विचारों को भूल जा। स्थिरता बढ़ा फिर देखेगा कि स्वार्थी मायावी अज्ञानता का गढ़ हिलने लगेगा। यह गिरा, वह गिरा,

अरे! सचमुच टूट ही गया। अब मार्ग सीधा और विशाल आया है। अखंड प्रयाण पर अप्रमत्त होकर आगे बढ। अरे दूसरों के नीच व्यवहारों का तिरस्कार क्यों करता है? इसी समय अन्तर से ध्वनि प्रगट होती है कि यह तो विघ्न रूप है। जाग! इसकी उपेक्षा कर! इसकी सत्ता में स्थित प्रभु अथवा पूर्णात्मा में दृष्टि लगा। ऐसा करने से गुणानुराग प्रकट होगा। यह दृष्टि भूलकर आत्माकार वृत्ति होगा। नव संयोग बदलने लगे। विचार रूपान्तर में प्रगट होने लगे। तिरस्कार वृत्ति दूर हुई। प्रेम, सद्भाव आत्मभाव प्रगट होने लगा।

ओ प्रभु मार्ग के पथिक! अभी आगे चल। प्रतिकूल संयोग आते हैं तो उनको स्वानुकूल बनाता रह! विचार बदलने से प्रतिकूल संयोग भी सुखदायी और अनुकूल मालूम होते हैं। इससे तुम्हारा आंतरिक बल विशेष बढ़ेगा। निर्बलता दूर होगी। अनन्त शक्तिमान आत्मा में निर्बलता का स्थान नहीं है।

आदर्शरूप परमात्मा को देख? इस प्रभु के अनुकूल तू अपना व्यवहार कर। हृदय में प्रभु के प्रकाश जागृत प्रबोध—को प्रगट कर। इस प्रकाश के तेज में काम वासना का धूली को खोजकर निकाल और निर्विकल्पक ध्यान की ज्वाला में जलाकर भस्म कर दे। विश्व का तू प्रेम प्रगट करता रह! इससे सारा विश्व, भयानक अटवी रूप से बदल कर नन्दन वन बन जायगा।

---

## प्रकरण बारहवां
## विचार शक्ति

वाष्प भाप और बिजली की शक्ति से जो महान कार्य इस समय शीघ्रता और सुगमता से हो रहे हैं उन से भी महान कार्य विचार शक्ति से हो सकते हैं। जैसे बिजली और वाष्प को एक यन्त्र में लगाने की आवश्यकता है वैसे ही विचार शक्ति को भी अमुक मर्यादा व आकार से नियमित करने की आवश्यकता है तभी वह शक्ति-बाहर कार्य कर सकती है।

जन्म परम्परा से घुमाने वाले विचार हैं। ऐसे ही जन्मों का नाश भी विचारों से ही हो सकता है। ये विचार पवित्र और उत्तम होने चाहिये। जैसा मनुष्य जीवन के तुल्य कोई जीवन नहीं वैसे ही मन से विशेष कोई उत्तम साधन नहीं। परन्तु इस मन के प्रयोग का ज्ञान ठीक होना चाहिये। मनुष्यों के भविष्य का आधार विशेषतः मन पर ही अवलम्बित है।

जैसे तमाम मिलें ( मशीनें ) वाष्प भाप से चलती हैं ऐसे ही प्रत्येक कार्य चलाने वाले विचार हैं। विचार जड़ प्रकृति पर भी प्रभाव डालते हैं विचार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाये जा सकते हैं।

जड़ प्रकृति रूप रहे हुए सूक्ष्म अणु विचार से वासित होकर एक दूसरे को वासित करते हैं। इस प्रकार परम्परा से सैकड़ों कोसों पर रहे हुए जीवों पर प्रभाव पड़ सकता है।

विश्व में अग्राह्य पदार्थ वायु के अणु और इससे भी विशेष सूक्ष्म कई प्रकार के जो अणु परमाणु हैं इन अणुओं में विचार गुजर कर, उनको अपने जैसा बनाकर दूर तक पहुँचा सकते हैं। इन विचारों का भला या बुरा प्रभाव जीवों पर पड़ता है। विचार मन के अन्दर आन्दोलन रूप हैं। इस आन्दोलन के आगे पीछे आई हुई सूक्ष्म प्रकृति के परमाणुओं को चलायमान करने में जीवों पर प्रभाव पड़ता है।

बिजली और वाष्प से तो धनी पुरुष ही लाभ उठा सकते हैं पर विचार शक्ति, गरीब तथा धनाढ्य प्रत्येक के आधीन है। इसके नियमों को समझ कर उपयोग में लाकर लाभ उठाया जा सकता है।

विचार आन्दोलन को उत्पन्न करते हैं, इसमें उनकी आकृतियाँ बनी दिखाई देती हैं। मनुष्यों के जैसे विचार हों तथा उनमें जैसी वासनायें और भावनायें हों वैसे ही आन्दोलन मन के अन्दर उत्पन्न होते हैं। और उतने ही बल से उसमें गति प्रगट होती हैं।

स्वार्थमय वासनामय तुच्छ विचारों से हलकी गति मन में प्रगट होती है। पर जो उत्तम निःस्वार्थ विचार हो तो ऊँचे प्रकार का मानसिक प्रकृति में आन्दोलन उत्पन्न होता है। जैसे विचार और वासनाएँ हों उसी प्रकार का मन का चित्र बनता है। हलका मन आध्यात्मिक उन्नति में विघ्नरूप है। इसको सुधारने के लिए अशुभ विचारों के करने का स्वभाव छोड़कर उनके विपरीत, शुभ विचारों को करने का स्वभाव डालना चाहिये। प्रारम्भ में

यह कार्य अवश्य कठिन प्रतीत होता है क्योंकि मन के परमाणु अशुभ विचारों के बन गये हैं। मन अशुभ विचारों से भरा हुआ है। और बार बार अशुभ परमाणुओं को एकत्रित कर रहा है जब तक इन परमाणुओं को अलग न किया जाय तब तक शुभ तथा अशुभ परमाणुओं में युद्ध चलता रहेगा।

जैसे जैसे शुभ विचारों को मन में प्रगट करते जायेंगे वैसे वैसे अशुभ विचार उत्पन्न करने वाले परमाणु कम होते जावेंगे। और उनके स्थान पर शुभ विचारों के अनुकूल परमाणु बनते जायेंगे। निरन्तर शुभ विचारों का प्रगट करने वाला मनोबल वृद्धि पाता है। शुद्ध परमाणुओं में मानसिक बल बढ़ने ही अशुभ मन का पराजय होगा।

मन में अच्छे प्रकार का आन्दोलन उत्पन्न करने की टेव पड़ने के बाद सुगमता से उत्तम आन्दोलन उत्पन्न कर सकेंगे। क्योंकि यदि एक बार विचार को इस मार्ग पर आने जाने की टेव पड़ जाय तो फिर इस मार्ग पर चलने का काम विचार को सुलभ हो जाता है। इसका दृष्टान्त यह है परमात्मा का नाम स्मरण करने के स्वभाव से मन के लिए यह कार्य सुगम हो जायगा। यदि इसके विपरीत, दूसरे के दोष देखने अवगुण बालने की टेव मन में पड़ जाय तो दूसरा के गुण देखने का काम कठिन मालूम होगा। मन के बुरे विचारों को दूर करने का उपाय एक यह भी है कि मन में ऐसे विचारों को उत्पन्न न होने दें। परन्तु यह मार्ग तो ऐसे परम वैरागी के लिए ही अनुकूल है जिसमें विषयों को विविध

प्रकार की वासनाओं और इच्छाओं का परित्याग किया हो।
और निस नाच प्रकृतियों से काई सम्बन्ध नहीं।

परन्तु जिन में ऐसा विश्व व्यापी प्रेम प्रगट नहीं हुआ
उनको ऐसे हलके विचारों के स्थान पर उनके विरुद्ध स्वभाव
वाले शुभ विचारों को मन में स्थान देना चाहिए और बार बार
ऐसे विचारों की पुनरावृत्ति करते रहना चाहिए। इस प्रकार
अशुभ विचार स्वतः नष्ट हो जायंगे। जिन जिन वृत्तियों के नाश
करने की इच्छा हो उन उन वृत्तियों के विरुद्ध गुणवाली वृत्तियें
उत्पन्न करते रहो। जैसे राग के बदले वैराग्य, क्रोध के बदले
क्षमा, द्वेष के स्थान पर प्रेम, अभिमान के स्थान पर नम्रता
और लोभ के स्थान पर सन्तोष इत्यादि विरुद्ध विचारों की
कल्पना करते रहो। इससे पूर्ववर्ती हलके विचार नष्ट होंगे
मन उत्तम विचारों के आन्दोलनों का मुख्य स्थान बनेगा। जैसे
किले से सामने आता हुआ गोला बाहर दारा जाता है ऐसे
शुभ परमाणुओं से बना हुआ मन अशुभ परमाणुओं को
रोक सकेगा।

विचारों का आकृतियें बन्धती हैं और उनको मनसे पोषण
मिलता है। मन में उत्पन्न हुए आंदोलन से मन के अनुओं का
पुंज गतिमान होता है। उससे अणुओं के पुंज की अलग अलग
आकृतियाँ बनती हैं। यदि विचार बलवान और चोक्स न
तो विचारों की आकृति निर्बल बनती है और थोड़े समय
बनकर बिखर जाती है।

यदि विचार प्रबल हो और बार बार उनका रटन किया हुआ हो तो आकृतियाँ नियमित और चौकस बनती हैं। पवित्र विचार का पवित्र आकृति और खराब विचार की खराब आकृति बनती है। जिसके विषय में विचार किया गया हो उसकी ओर आकृति तीर की तरह भागती है। यदि अपने विषय में विचार किया गया हो तो उस विचार की आकृति हमारे मन रूपी समुद्र में तैरती सी प्रतीत होती है। उसी आकृति का अपने ऊपर असर पड़ता है।

बार बार एक विचारों को उत्पन्न करने से ये आकृतियाँ सहायक होती हैं। इसलिए विचार अथवा भावनाएं उत्पन्न करने से पहिले विशेष सावधानी की आवश्यकता है। सावधान रहो जिससे कि अपना शस्त्र अपना घात न करे। खराब विचार के बदले उत्तम विचार की टेव भी डाली जा सकती है। यह बाजी तुम्हारे हाथ का खेल है। ऐसा उत्तम शक्ति के होते हुए तुम अधम शक्तियों की ओर किस लिए गिरे जा रहे हो।

शुभ आशाजनक और विश्व की भलाई करने वाले विचारों को अपने हृदय में स्थान दो। निरन्तर ऐसे ही विचार करो। फिर देखो, कि अमंगल रूप अशुभ विचार भागते हैं कि नहीं। इसका परिणाम यह होगा कि यदि तुम किसी भी विचार के करने का प्रयत्न नहीं करते तो उस समय तुम्हारे मन में शुभ विचार ही स्फुरित होंगे। प्रथम किये हुए शुभ विचारों की आकृतियाँ, आस पास फिरने से शुभ विचारों की वृद्धि करती हैं।

मनुष्य, विचार शक्ति का उत्तम उपयोग करना सीखे तो उनका जीवन सुखी और शान्त हुए बिना नहीं रह सकता।

---

## प्रकरण तेरहवाँ

## विचार का प्रभाव

यदि किसी सरोवर में पत्थर फेंका जाय तो पत्थर गिरने के स्थान पर कुण्डलाकार लहरें उत्पन्न होती हैं तब तरंग दूसरी तरंग को और दूसरी तीसरी को और तीसरी चौथी को-इस प्रकार सरोवर के किनारे तक कुण्डलाकार लहरें, [illegible] लहरों का क्रम चलता चला जाता है। इसी प्रकार विचारों में भी [illegible] विचारों का उत्पन्न करने का बल है [illegible] प्रकाश और शब्द की लहरें फैलती हुई इध[र] [illegible] प्रकाश और उत्पन्न करत[ी] हैं उसी प्रकार दूसरों के मस्तिष्क से निकले हुए विचारों का प्रभा[व] [illegible] उत्पन्न करता हुआ उस मनुष्य के पास जा[illegible] पहुँचता है। और प्रबल बल से वह विचार उस [illegible] असर डालता है। और कभी कभी उस विचार के अनुसार वह मनुष्य शुभ तथा अशुभ में प्रवृत्त करता है।

शुभ विचार दूसरे में सद्गुणों की वृद्धि करता है। अशु[भ] विचार, दूसरों का बुरा विचार करने वाले की हानि ही पहुँचा[ता] है। और दुर्गुणों को बढ़ाता है। ऐसा सोचे हुए वचन से नवीन आन्दोलन उत्पन्न करने का गुण रखता है। यह आन्दो[लन]

उनके भाग में रहने वाले अणुओं को अपने स्वरूप में वासित करके शब्द की आकृतियाँ उत्पन्न कर, दूसरे मनुष्य के कर्ण में प्रविष्ट कर शब्द के आशय का बोध कराता है। वह मनुष्य हमारे वचन के आशय को समझ कर तदनुकूल ही प्रवृत्ति करता है। इस प्रकार के तथा इससे भी सूक्ष्म और प्रबल गुण, विचारों में हैं कल्याण का मार्ग जीव को सन्मार्ग का गामी बनाता है इस का विचार अशांति, उद्वेग उत्पन्न करता है। जिनकी जिस दृष्टि विशाल है उनकी तरह यदि हमारी भी दृष्टि विकसित हो जाय, तो हम अशुभ विचार करने छोड़ सकते हैं।

जिन मनुष्यों का स्वभाव सात्विक और सद्विचार वाला हो उनके सहवास में आने से मनुष्यों को शाँति मिलती है। उनके पास बैठने से आनन्द प्राप्त होता है। समीप रहने से शुभ विचार के भाव पुष्ट होते हैं। उस समय में सद्वर्तन का कार्य सुगम हो जाता है। इसका एक मात्र कारण यही है कि एक सत्पुरुष के विचारों के आन्दोलन से उनके समीप वर्ती पवित्र वातावरण ने हमको ऐसी सुन्दर स्थिति में पहुँचा दिया है।

दूसरी ओर कुछ हलके विचार वाले व्यभिचारी और दुर्गुणी पुरुषों के सहवास में आने का प्रसंग मिले तो, मनुष्यों में अशाँति असन्तोष, कामवासना और द्वेष की वृद्धि होती है। उनसे दूर भागने को मन चाहता है। इसका कारण उन जीवों का उत्पन्न किया हुआ अशुभ वातावरण है। उनको खराब

आन्दोलन की आकृतियाँ हमारे में वैसी ही अशुभ भावनायें उत्पन्न करता हैं। उन्हीं के स्वभाव का ज्ञान अपने स्वभाव में पड़ता है। वे आकृतियाँ उस ज्ञान का आकार करती हैं। वह ज्ञान हमको अशुभ पतन के लिए प्रेरित करता है। ऐसी प्रवृत्ति से अपने में रहने वाले अशुभ ज्ञान का पोषण मिलता है।

भिन्न भिन्न विचार वाला व्यक्तियों के आन्दोलन प्रवाह भिन्न भिन्न दिशा में चलते हैं। वैरागी पुरुष के मन में वैराग्य का धारा प्रकट होता है। त्यागी के मन में से त्याग का, तपस्वी के मन में तपस्या का, योगी के मन में योग का, ज्ञानी के हृदय से ज्ञान का, भक्त के हृदय से भक्ति का और भोगी के मन से भोग के विचारों का प्रवाह बहा करता है। इसमें उस उस जाति के आन्दोलनों का प्रवाह उस उस जाति की भावना रखने वाले और उन्हीं संस्कार वाले जनों के मन में उसी जाति के विचार बहुत जल्दी असर करने वाले होते हैं।

इससे यह स्पष्ट है कि विचार तुम करोगे जैसे उसी विचार के जन तुम्हारा ओर आकर्षित होंगे। और वही प्रभाव दिन के जनों पर कर सकोगे। ऐसे विचारों का मुख्य केन्द्र तुम बनोगे। और ऐसे सजातीय विचार वालों के तुम सहायक बनोगे। उनको संकट में डालने वाले तथा सन्मार्ग से भ्रष्ट करने वाले तुम ही होंगे। आत्म ज्ञान की जागृति बिना तुम जो हलके विचार पैदा करते हो उनसे तुम अपने को और दूसरों को दुःख के गड्ढे में धकेलते हो। इसको भली प्रकार ध्यान रक्खो कि

जितने जिम्मेदार तुम अपने वचनों के हो उससे भी अधिक जिम्मेदार विचारों के हो। इसका कारण यह है कि वचन की अपेक्षा विचार अधिक दूर जाते हैं और मनुष्यों पर अधिक असर डालते हैं। वे मनुष्यों में रहने वाले सत्तागत संस्कारों के विशेष प्रेरक तथा पोषक बनते हैं। दूसरों के सम्बन्ध में खराब बातें करनी, निन्दा करनी, निर्दोष पर दोष लगाना उनको लोगों की दृष्टि में गिराना ये कार्य बहुत बुरे हैं। उनमें वे दोष हों या न हों तो भी तुमको उनसे कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिये। इसमें तुम अपनी ही अधम वृत्ति को प्रगट करते हो। इस का यह फल होगा कि तुम उन दोषों के भाजन स्वरूप हो जाओगे। इसलिए तुम दूसरों की बुराई की बातें करना छोड़ दो और ऐसे विचार करने की टेव डालो जो तुम्हारे लिये और दूसरों के लिये भी लाभदायक हो। कल्पना करो कि किसी मनुष्य में अमुक दोष है और उसको किसी मनुष्य ने प्रगट किया उसके प्रगट करने से बहुत से मनुष्यों—[ उसके दोष को जानने या न जानने वाले लोगों—] ने अपनी दृष्टि और भावना उसकी तरफ लगाई, उन सबको ही उसके दोष का पता लग गया तथा अपनी अपनी सम्मति प्रगट करने लगे। इस विचार पुँज का प्रवाह दोषी के इरद गिरद घूमता है उसके मन में यह विचार प्रविष्ट होते हैं। यदि उसमें दोष कम थे तो अब इन विचारों से उसके दोषों में और भी वृद्धि हो गई। और उसका आचरण भी वैसा हो जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उस विचार के फैलाने वाले मनुष्य ने इस-निर्दोष या सदोष मनुष्य के दोषों के पोषों

को पूर्णतः जमा दिया। यदि उनमें दोष थे तो उनकी शुद्धि हो गई।

इस दोष और दुःख पूर्ण समाज में इस प्रकार के अधम मनुष्य विशेषतः ज्ञान से या अज्ञान में दोषों की वृद्धि कर रहे हैं। ऐसे कारण रहित और निष्प्रयोजन उत्पन्न किये हुए पापों से आप पीड़ित हो रहे हैं। और दूसरों को पीड़ित कर रहे हैं। इसलिए निन्दा दोष से जहाँ तक हो सके बचना चाहिये।

हे मनुष्यो! तुम सद्वृत्ति की तरफ झुको। इससे तुम शुभ विचारों को अपनी तरफ आकर्षित करोगे और दूसरे के सद्गुणों का पोषण कर सकोगे। यदि किसी के अवगुण दृष्टि में आवें तो उनकी तरफ लक्ष न दो। उनका चिन्तन न करो। यदि तुम पापों की तरफ ध्यान दोगे तो तुम्हारे विचारों के आन्दोलन से उनके अवगुणों को उत्तेजना मिलेगी और वे और भी बिगड़ेंगे। तुम्हारे प्रेम प्रेमियों का यह कर्तव्य है कि तुम्हें जिस गुण की आवश्यकता हो उसकी तरफ ध्यान लगाओ। प्रेम और एकाग्रता वाले विचारों से तुम अपने मन को परिपूर्ण करो। और उन विचारों की मानसिक मूर्ति अपने सामने खड़ी करो? इन विचारों का प्रवाह दूसरों की तरफ बहाओ। इस प्रकार तुम अपने हितैषियों की सहायता कर सकोगे और उनको गुणी बना सकोगे?

इस प्रकार विचारों का सदुपयोग करो? अपने विचार बल के परिमाण में शुभ रीति से तुम विश्व का कल्याण कर सकोगे।

इस शक्ति का सदुपयोग करो। इस समय मनुष्यों के विचार बल बहुत कम और मन्द हैं। आमदनी के बिना खर्च करना मूर्खता है। इसलिए इस रीति से वर्तन करो जिससे अपना और दूसरा का भला हो।

ध्यान और योग के स्वतन्त्र मार्ग भी अपनी विचार शक्ति के सदुपयोग और निरोध के लिए ही निर्माण किये गये हैं। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है। विचार शक्ति महान शक्ति है। विश्व के सम्पूर्ण मानसिक सुख दुःख की उत्पत्ति इस विचार शक्ति के सदुपयोग और दुरुपयोग से ही होती है। मन की निर्विकल्प दशा से आत्मा की अनन्त शक्तियाँ प्रगट होती हैं, जो शाश्वत हो कर परम शान्ति का स्थान है।

---

## प्रकरण चौदहवाँ
## आध्यात्मिक जीवन

यह जीव हजारों घटनाओं के बीच में से गुजर कर माया जाल को भेद कर और प्रत्यक्ष परिवर्तन शील देह-आकार में भी इस शाश्वत आत्म तत्व को देखता है। यही-आध्यात्मिक जीवन है। आत्मा को देखो। उस पर प्रीति रखो। आत्मा का अनुभव करो। यही सच्ची आध्यात्मिक विद्या है। इसके अतिरिक्त सब ज्ञान अज्ञान ही है।

जिस जीव का जीवन-आकार-देह में आसक्त होकर आकार में ही मर्यादित रहता है वह आध्यात्मिक जीवन नहीं

का समन्वय है … । प्रत्येक स्थान पर परमाणुओं में दबा हुआ रूप … । संचालित होते हैं पर आत्मा अपरिवर्तित है।

प्रकृति में आसक्त … । सिद्धियाँ भी मायावी हैं। और विद्यमान हैं। … आत्मा के पीछे रह हुए तत्व को … । अन्तर्ज्ञान आत्मा के लिए प्रिय नहीं … । यह आत्म ज्ञान है ऐसा … है।

अन्तःकरण के आदेश में जो हमारा कर्तव्य है। उसे आचरण में लाने और सत्य आत्मा में निमग्न रहने से अपने अन्दर की प्रतिभा विकसित होती है। इसी को अन्तःकरण की ध्वनि कहते हैं। मन शरीर वासनाओं से उत्पन्न अहंकार मनुष्य को बहुत बार गलत मार्ग पर ले जाता है। इससे यह जीव अपने मार्ग को भूल कर बार बार इच्छा मार्ग में चला जाता है। और यह समझता है कि मैं अपनी अन्तर की आवाज के अनुसार चल रहा हूँ। परन्तु यह अन्तःकरण की ध्वनि है या अपने मन की इच्छा है। इसका अन्तर जानना जान के लिए कठिन है। इसका निश्चय करने के लिए अपने शान्त चित्त में प्रविष्ट होना ही सत्य मार्ग है।

प्रथम हृदय की इच्छाओं को दूर करो। मैं शुद्ध आत्म स्वरूप हूँ ऐसा विचार कर मन और शरीर का अभिमान छोड़ना

चाहिए। आत्म भाव का दृढ़ [illegible] किया करो। और ऐसा हो इष्ट गुरु से प्रार्थना करो कि [illegible] मार्ग पर चलाइये। आत्म निरीक्षण और मन में [illegible] है उसमें हम जो मार्ग ठीक मालूम हो उस पर [illegible]।

[illegible] प्रयत्न करने पर [illegible] अनुसार मनुष्य अपने को परिश्रम समझते हुए [illegible] अपनी ही भूल समझो। अपनी [illegible] के लिए अपनी भूल स्वीकार करना चाहिए। [illegible] अहंकार और इच्छा के वशीभूत रहने से [illegible] के लिए प्रयत्न करते हुए यह भूल सुधर जायगी। [illegible] मार्ग पर चलते हुए [illegible] से भूल हो जाय तो [illegible]। भूल का दुःख सहन करो। क्योंकि दुःख अपने [illegible] को दूर करता है और यह एक शुभ आशा [illegible] है।

यदि मनुष्य किसी [illegible] का निश्चय करता हुआ उसकी कठिनाइयों में [illegible] की ध्वनि [illegible] करता है और कोई दूसरा [illegible] मार्ग बतावे [illegible] यह सारा समझता हुआ, [illegible] की ध्वनि [illegible] उस मार्ग पर प्रवृत्ति करता है [illegible] परिणाम [illegible] होता है कि उसके अन्तःकरण [illegible] पड़ जाता है।

जिस मार्ग पर चलते [illegible] तुम्हारा [illegible] हो उस मार्ग पर चलने [illegible] ध्वनि में होते हो। "यह [illegible] है [illegible]

जिस मार्ग पर चलने से जो परिणाम होगा उससे भी सहस्र गुणा बुरा परिणाम अन्तःकरण के आदेश के विरुद्ध किसी भी मार्ग पर चलने से होगा। निरन्तर उद्योग किये बिना कर्त्तव्य का कुछ हाथ नहीं आता। अपने से उच्च जीवन गुजारने वालों और आत्म ज्ञान तथा अनुभव में आगे बढ़े हुए पुरुषों की सङ्गति करना भी-आत्म साधन का आवश्यक मार्ग है।

जिसकी भावना का आदर्श तुम से उच्च हो वह ही तुम्हारा गुरु बनने के योग्य है। जो सच्चा आत्मज्ञ है उसका जीवन बड़े उच्च प्रकार का होना चाहिये। उसके प्रति पूज्य बुद्धि रखकर उनकी आज्ञा पालन करो।

जो तुम्हारे समगुण हो उसके प्रति नम्र, प्रेमी बन कर उसके सहायक बनो। अपने से कम गुण वाले जनों की तरफ दया और सहानुभूति का भाव रक्खो। यह मन सामान्य कर्त्तव्य हैं। आगे बढ़ने वालों को इस कर्त्तव्य में जरा भी भूल नहीं करनी चाहिये। जो इस साधारण नियम की उपेक्षा करता है वह आत्म मार्ग का अधिकारी नहीं हो सकता।

यह ध्यान रक्खो कि जो कोई भी मनुष्य तुम्हारे परिचय में आवे, वह तुम्हारे समागम से श्रेष्ठ मनुष्य बन जाय। यदि कोई अज्ञानी तुम्हारे पास आय, तो अपने ज्ञान से उसको लाभ पहुँचाओ। यदि कोई दुःखी तुम्हारे सहवास में आवे तो, उसको सान्त्वना देकर उसके दुःख को कम करने का प्रयत्न करो।

कोई निराधार मनुष्य तुम्हारा सहारा लेने तुम्हारे पास आये, और तुम में बल हो तो अपनी शक्ति का उपयोग करके उसका दुःख कम करो। तब ही तुम्हारी संगति और शक्ति की सार्थकता है।

तुम निरन्तर अविश्रान्त नम्र और सहानुभूति पूर्ण बनो। कठोर होकर दूसरों को व्याकुल मत करो। जगत में दुःख का अन्त नहीं। इसको तुम कम ही करो मगर अधिक न होने दो। तुम प्रकाश रूप होकर दूसरों के लिए मार्गदर्शक बनो। तुम्हारी संगति में आने वाले जीव तुम्हारे प्रकाश का लाभ उठाकर निश्चित और निर्भय स्थान में पहुँच सकें इसमें तुम उनकी सहायता करो।

तुम्हारा दूसरों पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसी में ही सच्ची आध्यात्मिकता मालूम हो जायगी। तुम्हारा जन्म स्वयं श्रेष्ठ बन कर दूसरों को उच्च बनाने के लिए है, इस आदर्श को सन्मुख रख कर अपने जीवन का सद्व्यवहार करो। दूसरों की अज्ञानता निर्बलता और नीच वृत्ति को देख कर उनकी ओर कठोर मत बनो, वे गिरे हुए हैं उनके उठाने में सहायक बनो, तुम जहाँ खड़े हो वहाँ से यदि गिर जाओ तो तुमको खड़ा होने के लिये दूसरों की सहायता की आवश्यकता होगी और वह सहायता तुमको उस वक्त मिलेगी जब कि तुमने दूसरों की सहायता की होगी।

यह समस्त जीवन अध्यात्म जीवन है। उन सब में आत्मा के गुणों का चिन्तन करो, तब ही तुम्हारी भावनायें उच्च होंगी। व्याधि उपाधियां में जिस भेद भाव को तुम देख रहे हो, वह भेद भाव आत्म ज्योति के दर्शन से नष्ट हो जायगा। अध्यात्म जीवन में जाने वाला अन्त में परमात्म स्वरूप हो जायगा।

---

## प्रकरण पन्द्रहवॉं

### स्वाश्रय

अपने आत्मा पर श्रद्धा रखकर आगे बढ़ने वाला मनुष्य, महान् से महान् कार्य कर सकता है। आत्म श्रद्धा विजय की चाबी है। स्वाश्रय पर रहने वाला मनुष्य, अपने आपको अच्छा बना सकता है।

यह जीव आप ही अपना मित्र तथा शत्रु है। एक का दुःख दूसरा नहीं भोगता। इसी प्रकार का सुख भी दूसरा नहीं भोग सकता। प्रत्येक जीव का भला बुरा पुरुषार्थ ही उसको सुखी या दुःखी बनाता है। मनुष्य! औषधियों से भरी हुई अलमारियों को देखने से क्या लाभ? जब तक कि रोग का निश्चय करके योग्य औषधि का उपयोग न किया जाय। इसी प्रकार धर्म की औषधियाँ धार्मिक पुस्तकों में लिखी हुई हैं केवल उन पुस्तकों को पढ़ने और सुनने मात्र से ही आन्तरिकरोग कर्मरोग नहीं मिटेगा किन्तु उन पुस्तकों में पढ़े अथवा सुने हुए को व्यवहा

म लाने स ही तुम्हारा पुरुषार्थ तुमको जन्म मरण क रोग स छुडायगा।

इस विश्व वाटिका में उत्तम से उत्तम स्वादिष्ट पौष्टिक, गुलदाया आर ललचायी अनेक प्रकार क फल उत्पन्न होते हैं पर उनका मूल्य देने वाला ही उन फलों का उपभोग कर सकता है। इस विश्व वाटिका का स्वादिष्ट फल, आत्मा की अनन्त शक्तियों का विकास है। कोई विरला पुरुष ही इन अनन्त शक्तियो का आनन्द प्राप्त कर सकता है।

वसन्त ऋतु का लक्ष्मी का आनन्द माला स अधिक उसके मर्म ज्ञान का समझने वाला ही ले सकता है। इसी प्रका प्रकृति के मम अथात् वस्तु तत्व क रहस्य का उसक लिए प्रयत्न करने वाला और उसको समझने वाला ही जान स [illegible] है। जैसे आकाशीय यात्रा का आनन्द वायु या [illegible] जहाज) का किराया देकर मिल सकता है इसी प्रकार [illegible] के आनन्द को भोगने का वायुयान, किराय [illegible] पर विश्व की मायिक वस्तुओं का [illegible] देने वाला ही सकता है।

चाहे तुम गुरुजनो की सहा[illegible] रहो तो भ[illegible] चारी जीवन तो तुम्हें स्वय ही [illegible]।

इस जीवन गाडी क [illegible] सचालक बनो। तब ही तुम [illegible] से स्थान पर [illegible]ओगे।

दूसरे सत्पुरुष हमारे लिए अधिक से अधिक इतना कर सकते हैं कि वे हमें बाधा रहित निर्दोष मार्ग बतला दें परन्तु उसका लाभ लेकर उस मार्ग पर चलने का प्रयत्न तो हमें स्वयं करना होगा। इसके बिना तुम पूर्ण स्वरूप को नहीं पहुँच सकते।

अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों को तुम अपने विचारों से बदल सकते हो। तात्पर्य कि अनुकूल संयोगों को प्रतिकूल बना सकते हो और प्रतिकूल संयोगों को अनुकूल बना सकते हो। इसलिए प्रतिकूल संयोगों को अनुकूल बनाना सीखो। और अनुकूल संयोगों का विलम्ब रहित लाभ लो। क्योंकि यह किस को पता है कि कल अनुकूल संयोग प्रतिकूल रूप में बदल जायँ।

'मैं जैसा चाहूँ वैसा बन सकता हूँ' ऐसी दृढ़ आत्म श्रद्धा ही तुममें सब गुणों को लाने में समर्थ है। मानसिक शक्ति वाला आध्यात्मिक बल वाला और सत्य को समझने वाला विवेकी मनुष्य भी यदि आगे नहीं बढ़ सकता तो उसका मुख्य कारण आत्म श्रद्धा और सानुकूल पुरुषार्थ की कमी है। यदि इन कमियों को दूर किया जाय तो वस्तु में से उसका सत्य स्वरूप अवश्य प्रगट होगा।

मनुष्य को पुरुषार्थ करते हुए यदि किसी कार्य में सफलता न हो तो वस्तु की सिद्धि में बाधक स्वरूप कारण की खोज करो। इसमें या तो साधन की पूर्णता नहीं या अपनी निर्बलता है। यदि पुरुषार्थ की कमी हो तो खोज से प्रतिकूल संयोगों को निकाल कर और पुरुषार्थ करके उस पर विजय प्राप्त करो।

दूसरों की सहायता पर आधार रखने वाले, सदा दूसरा के आधीन ही रहा करते हैं। अपने ऊपर भरोसा रखने वाले ही कार्य सिद्ध कर सकते हैं। वे ही सजग बलवान् गिने जाते हैं। आत्मा बाहर की वस्तु नहीं इसलिए वह बाह्य वस्तुओं के साधनों पर आधार नहीं रखता, आत्मा स्वतः ही अपने आपमें प्रगट होता है।

जो मनुष्य परीक्षा के समय दुःख तथा कठिनता के प्रसंग में स्वयं खड़ा रह कर अपने बल की परीक्षा करता है वही अपने आत्म बल पर जीने वाला है। उसको किसी सहारा देने वाले या सहानुभूति प्रकट करने वाले की आवश्यकता नहीं क्योंकि उसने सदा अपने आधार पर रहना सीखा हुआ है। जो काम स्वतः किया जा सकता है, उस काम को करने के लिए यदि दूसरों पर आधार रखा जाय तो तुम में धीरे धीरे आलस्य का प्रवेश होने लगेगा। फिर तुम्हारा कार्य करने में आत्मविश्वास कम होता जायगा। अन्त में तुम अपनी शक्ति, प्रबलता को खो बैठोगे।

कई एक मनुष्य अभिमान से अपने में ही सर्वस्व रखने की वृत्ति रखते हैं। परन्तु यह आत्म श्रद्धा नहीं। आत्म श्रद्धा, विपरीत संयोगों में भी अपने सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास तथा आशा रखते हुए, अकेले खड़े रहने की विशिष्ट शक्ति है। जैसे लता वृक्ष का आधार लेती है ऐसे तुम आधार लेने वाले मत बनो, ?

भीख माँगने से काम नहीं देता। ओ अनन्त शक्तिमान आत्मा! तुम अनन्त शक्तियों के निधान हो। बाहर से तुममें का शक्ति न आयगी। इसलिए तुम स्वयं पुरुषार्थ करो और कर्म बोझ के नीचे दबी हुई, छिपी हुई आत्मशक्ति को प्रगट करो प्रभु महावीर का यह सिंहनाद है कि तुम चाहे जितना प्रार्थना करो, अनुनय विनय करो और रोया करो तो भी तुमको दुख अनन्त शक्ति नहीं मिल सकेगी। वह तो तुमको स्वयं पुरु करने से प्रगट करना होगा।

आत्म स्वरूप तुम स्वयं हो। यह ऐसी वस्तु नहीं जो तुम कोई दूसरा दे सके। इसका तो तुम स्वयं ही अनुभव मैं सकते हो। इतना तो दूर रहा कर्म के उदय के समय कोई एक भी नष्ट हो सकेगा। बांधे हुए कर्म स्वयं ही भोगने पड़ते प्रभु महावीर के जीवन में एक घटना आती है कि, जब त्याग का मार्ग ग्रहण किया उस समय इन्द्रदेव ने आकर वि की कि प्रभो! आपने कर्म बहुत भोगने हैं और इनके उपभो उपसर्ग भी बहुत होंगे इसलिए आपकी आज्ञा हो तो मैं उपसर्गों को दूर करने के लिए आपके समीप रहूँ। उस भगवान महावीर ने यह उत्तर दिया था कि, इन्द्र! ऐसा नहीं हुआ, न होगा, कि तीर्थंकरों अथवा दूसरों ने किसी सहायता से आत्म स्वरूप प्रगट किया हो। उनको अपने पूर्व कर्मों का नाश या उपभोग स्वयं ही करना पड़ेगा और प्रसन्नता पूर्वक करना चाहिये। इन कर्मों के क्षय करने के ही ए ज्ञान प्रगट होता है।

कर्मों का भोग ही कर्मों का क्षय है। कर्म क्षय करना ही पड़ता है। दूसरों की सहायता लेने से कर्म भोग का समय घटता है। अन्त में बिना भोग छुटकारा नहीं होता। जब भोगने ही हैं तब शूरवीर बन कर क्यों न भोग जाय। इस उत्तर पर शक्र निरुत्तर हो गया, तो भी वह भक्ति से प्रेरित होकर एक देव को प्रभु की सेवा में, मरणान्त उपसर्गों को निवारण करने के लिए छोड़ कर देव लोक को चला गया। जब भी प्रभु के सामने प्रबल उपसर्गों से टक्कर भोगने का प्रसंग उपस्थित होता था तब ही वह देव किसी न किसी कारण से वहाँ उपस्थित न हो सकता पर उपसर्ग जन्य कष्ट भोगने के बाद तुरन्त आ उपस्थित हो जाता और अपने प्रमाद के लिए पश्चात्ताप करता था।

उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय है कि जीव ने अपना आत्म भ्रान्ति के समय में आत्म ज्ञान भूल कर जो कर्म बाँधे थे वह बाँधने की शक्ति जीव की थी। पर शक्ति का दुरुपयोग कर्मों के बन्धन का कारण हुआ। उसी आत्मशक्ति का सदुपयोग करने से जीव कर्मों के बन्धनों को तोड़ सकता है। कर्म शृङ्खला को तोड़ने में दूसरे की सहायता उपयोगी नहीं होती। क्योंकि परिणाम की धारा बदलने से ही कर्म से छूट सकते हैं। परिणाम की धारा को तो जीव स्वयमेव ही बदल सकता है। इसमें दूसरों की प्रवृत्ति उपयोगी अथवा सफल नहीं हो सकती। इच्छा रहित हुए बिना स्व स्वरूप में स्थिति नहीं होती। इन इच्छाओं के सम्बन्ध को जीव स्वतः ही परे हटा सकता है। यह कार्य अन्तरंग

है। दुःख के उपभोग में, दूसरे मनुष्य बाह्य अनुकूलता दे सकते हैं या चेतावनी कर सकते हैं परन्तु अन्तरंग इच्छाओं का नाश और स्वरूप में स्थिति का काम तो जीव को अपने आप ही करना पड़ता है।

आत्म स्वरूप का विकास करने के लिए यह जीवन एक युद्ध का प्रसंग है। यह युद्ध स्वयं लड़ने का है। इसमें वीर पुरुष की तरह अपने पराक्रम से युद्ध कार्य करके दिखाना है। क्योंकि सामने काम, क्रोध, लोभ, मोह और अज्ञानता की सेना खड़ी है। उसके साथ मुकाबिला करना है। यह मुकाबिला एक दिन, एक महीने या एक वर्ष का नहीं किन्तु जीवन पर्यन्त युद्ध करके इनके ऊपर विजय प्राप्त करना है।

इस लड़ाई में तुम दूसरों का नहीं भेज सकते। इसमें भाड़े के आदमी काम नहीं आ सकते। और इस लड़ाई से तुम भाग भी नहीं सकते। उसमें विजय का प्रश्न है, जीवन मरण का विचार है। स्वाश्रयी बन कर पुरुषार्थ करो, यही विजय है, यही आत्म विकास का मूल मंत्र है। जिस शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा है उसका मूल्य दो तब तुमको वह शक्ति प्राप्त होगी। तुम्हारी जाति तो आत्मा ही है, मन, वचन, शरीर इत्यादि तुम्हारे साधन हैं। इनका सदुपयोग करो। इससे तुम्हारी अखूट शक्ति बढ़ेगी।

तुम सद्गुणों की खान हो। इसमें खूब गहरे उतरो। उसके अन्दर छिपी हुई वस्तु तुम्हारी ही है। परन्तु थोड़ा पुरुषार्थ करके, इसको गहराई से बाहर निकालो। इसको दया कर रखने

वाला इच्छा, कामना, वासना, रूप, कर्म की धूल है, उसको दूर भगाओ, ऐसा करने से तुम अक्षय भंडार के स्वामी तुम ही बनोगे।

तुम इस समय जिस स्थिति में हो उससे उत्तम स्थिति में आने का प्रयत्न करो। इससे आत्म श्रद्धा की दृढ़ता के साथ आत्म शक्ति के विकास का प्रारम्भ होगा। इसी प्रकार तुम्हारा पग उन्नति की दिशा में आगे बढ़ेगा।

जैसे युद्ध में विजय का मुख्य साधन यही है कि—पहले से, अस्त्र, शस्त्र, सब प्रकार की सेना तथा अन्यान्य युद्ध सम्बन्धी सामग्री उचित और अधिक परिमाण में सचय करके उसको एक बुद्धिमान् सेनापति के आधिपत्य में रखा जाता है इसी प्रकार मोह रिपु के साथ युद्ध करने के लिये, अपने ज्ञान आदि हथियार, शरीरादि साधन और विचार आदि के साथ की ज्ञानी सद्गुरुओं की देख रेख में रखने का प्रयत्न करना चाहिये। तब अवश्य तुम्हारी विजय होगी।

सदा सम्बन्ध तो शुद्ध आत्मा के साथ करना चाहिये। गत वर्ष में तुम जैसे थे, उससे अच्छे और बड़े बनने का प्रयत्न करो। यही अन्दर का विकास है। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं और वे पुरुषार्थ द्वारा प्रगट होती हैं।

भय से न घबराओ? निराश न होवो? आत्मा के समीप आते जाओ? यहाँ भय नहीं पर शान्ति है। निराशा नहीं पर

आनन्द है। अपने ऊपर आधार रक्खो। स्वयं परिश्रम करो। अन्त में तुम्हारा ही बल तुम्हारे काम आयेगा। मेरा देव ऐसा था, मेरा गुरु ऐसा था, हमारे पूर्वज ऐसे महान् हो चुके हैं ऐसी ऐसी बातों से सन्तुष्ट न होओ। वे बड़े पुरुषार्थी हो चुके हैं तुम भी उनके चरण चिन्हों पर चलकर यदि आत्म पुरुषार्थ करोगे तो अवश्य वैसे बनोगे।

---

## प्रकरण सोलहवां

## "आत्मभान"

बहुत से मनुष्य शरीर प्राण और मन इत्यादि तत्त्वों में ही अधिक जाग्रत रहते हैं, परन्तु इनका प्रयोग नहीं जानते। इन तत्त्वों से अपने तथा दूसरों को लाभ कैसे पहुँचे, ऐसा ज्ञान सब में समान नहीं होता। तथापि इनका उपयोग स्वतः सब कर रहे हैं। परन्तु सच्चा आत्मभान [ आत्मनिष्ठा ] तो बहुत ही थोड़े जीवों में जाग्रत होता है।

कई एक लोग शरीर बल का अच्छी तरह से उपयुक्त करते हैं। विविध प्रकार के व्यायाम कसरत करके, सैण्डो की भांति शारीरिक बल प्रगट करके मोटर रोकते हैं। साँकल तोड़ सकते हैं, छाती के ऊपर पत्थर तुड़वाते हैं और हाथी चढ़वाते हैं। इस प्रकार शरीर बल का चमत्कार वीर पुरुषों की गणना में आते हैं।

कई एक जीव, अपनी इन्द्रियों को इस प्रकार तेजस्वी बनाते हैं कि बहुत दूरवर्ति तथा—सूक्ष्म वस्तुओं को आँखों से देख

सकते हैं। अनेक मिश्रित वस्तुओं का गन्ध, नासिका द्वारा पहचान कर, पृथक् पृथक् वस्तुओं के नाम बता देते हैं। एक ही साथ बहुत से बाजों का शब्द सुन कर, बराबर सबका पृथक् पृथक् नाम बता देते हैं। अनेक स्त्री पुरुषों के स्वरों को अलग अलग पहचान लेते हैं। बहुत वर्षों के सुने हुए शब्द को पहचान लेते हैं। मुँह से अनेक पशु पक्षियों की बोली को बराबर बोल सकते हैं। रसना इन्द्रिय को इतनी तीक्ष्ण बना लेते हैं कि विविध रस वाली वस्तुओं के स्वाद से, उन वस्तुओं का अलग अलग बता देते हैं। हाथ, पाँव के स्पर्श से विविध प्रकार की वस्तुओं की पहचान लेते हैं। आँखों के बिना, केवल हाथ से ही खरे खोटे रुपये की परीक्षा कर लेते हैं। बहुत समय के बाद भी, देखा या अनुभूत की हुई वस्तुओं के स्पर्श से उनकी दशा ठीक ठीक बता देते हैं।

प्राण वायु के रोकने का अभ्यास करने वाले अधिक समय तक प्राणों को रोक सकते हैं। श्वास प्रश्वास को बन्द करके समुद्र तल तक पहुँच कर मोती इत्यादि रत्नों को निकाल लेते हैं। प्राण को रोक कर मृतक देह की तरह कुछ समय तक पड़े रह सकते हैं। नाडियों की गति को बन्द करके प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र में रोक कर महीनों तक जमीन में दब रह कर फिर जीवित बाहर निकल आते हैं। अभ्यास से प्राण जैसी सूक्ष्म वस्तु को भी वश में कर सकते हैं।

मन को रोकने के अभ्यास से विचार किये बिना दीर्घ काल तक रह सकते हैं। विद्याभ्यास द्वारा मन को बहुत मजबूत कर सकते हैं। मानसिक बल के योग से एक पुरुष बहुतों को चकित और कंपित कर देता है। तथा बहुतों का मुकाबला कर सकता है। अड़या को परास्त करके विजय प्राप्त कर सकता है।

वचन के बल में प्रवीण पुरुष, अनेक जीवों को अपनी वाक् चातुरी से मुग्ध कर लेता है, और उनपर अपना प्रभाव डाल सकता है। वचन के प्रभाव से वीर रस उत्पन्न करके अनेक जीवों को रण भूमी में उतारता है वैराग्य रस उत्पन्न करके, अनेकों को संसार से विरक्त बनाता है। शृङ्गार रस से विविध कामनाओं के बल की पुष्टि करता है। करुणा शान्त रस पैदा करके अनेक जीवों को आत्मा की ओर लाता है। सब पुरुषों को वचन बल से आश्वासन देकर उनमें नव जीवन का संचार करता है। कठोर हृदयों को कोमल और कोमल हृदयों को कठोर बनाता है। विरागी को रागी और रागी को विरागी बना सकता है। घड़ी में जीवों को रुलाता, और घड़ी में हँसाता है। ये सब वचन बल के कार्य हैं। इस प्रकार एक के बाद दूसरे अर्थात् शरीर बल, बाहुबल, इन्द्रियबल, प्राण बल और मनोबल में चतुर-बलशाली पुरुष विरले ही कई मिल जाते हैं, परन्तु घोर अज्ञान में निद्रित पुरुषों को, स्वभाव में जागृति पैदा करने वाले आत्मज्ञानी कोई बिरले ही बार इस विश्व में मिल सकते हैं।

प्राय मनुष्यों के जीवन का अधिक भाग, आत्म ज्ञान की निद्रित अवस्था में चला जाता है। और बहुधा शरीर मन इन्द्रिय आदि तन्त्रों में ही अधिक समय चला जाता है। वह एक बार यह नहीं जानते कि मैं, "आत्मा हूँ या क्या हूँ" वहीं भ्रमा करते रहते हैं। अपने मन, देह और प्राण को ही जीवन मानते हैं। तथा देहादि के मरण में अपने को मृत समझते हैं।

जैसे जैसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय, वचन और मन प्रबल होते जाते हैं, वैसे वैसे क्रोध, लोभ, मोह, राग और द्वेष आदि भी प्रबल होते जाते हैं। इन सब आदि की शक्तियों के बढ़ने के साथ जीव का असंयमित भी बढ़ता है। आत्म ज्ञान के जागृत हुए बिना मन आदि की बढ़ी हुई शक्तियाँ जीव को उल्टे मार्ग में चलाती हैं तथा उसके भावी कल्याण मार्ग में बड़ी बड़ी बाधायें उपस्थित करती हैं। जिनको दूर हटाने के लिए जीव को बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।

यह समस्त, विकसित, शरीर आदि की शक्तियाँ जब आत्मा के आधीन रहती हैं तब इनमें पवित्रता बढ़ती है, शान्ति आती है, विषयों की लोलुपता और मन की चञ्चलता कम होती है। जीवन नियमित बनता है, परोपकार की वृत्ति जागती है। वह सब का भला चाहता है और प्रसंग वश भला करता है। सब जीवों को अपने समान गिनता है। उनका सहायक होता है। उन जीवों को सुखी देख कर आनन्दित होता है। यदि आत्म जागृति न हो तो इन शक्तियों के दुरुपयोग का कार्य सुगम हो

जाता है। स्वामी रहित पशु की तरह उस जीव का जीवन स्वच्छन्द विलासी और निकम्मा बन जाता है। इसके साथ और जीवों के सामने उपद्रवकारी होता है।

अनन्त शक्तियों का स्थान आत्मा में रहता है। शरीर इन्द्रिय और मन आदि को शक्ति भी आत्मा देता है। उस शक्ति के अभाव से शरीर आदि चेष्टाहीन होकर, ऐसे ही निष्फल हो जाते हैं जैसे वृक्ष मूल में रस न मिलने से सूख जाते हैं। इस प्रकार से शरीर आदि जमीन में दबाने तथा अग्नि में जलाने के योग्य हो रह जाते हैं।

यह चैतन्य मय आत्मा अमर है। मनुष्य जैसे पुराने वस्त्र बदल कर, नवीन वस्त्र धारण करते हैं। वैसे ही आत्मा इस पुराने शरीर को छोड़ कर नये शरीरों में प्रवेश करता है। फिर उनमें हलन, चलन, स्मरण, वचन और विचार आदि क्रियाओं का आरम्भ होता है।

इन सारी क्रियाओं का प्रेरक अथवा स्वामी आत्मा है। आत्मा की तरफ दृष्टि रखते हुए शरीर आदि की सारी क्रियायें होती रहें और उसकी प्रेरणानुकूल ही वर्तन होने, एवं इन्द्रिय मन आदि अपने स्वार्थ के लिए अपनी इच्छानुसार वर्तन न कर सकें, तब आत्मा को जागृत समझो।

जैसे जैसे आत्मभान विशेष जागृत होता है वैसे वैसे स्वरूप का प्रकाश अधिक समय तक स्थिर रहता है तथा उसके जीवन में विशेष अन्तर पड़ता जाता है। यह जीव अब आवश्यकता से

अधिक नहीं बोलता। मौनव्रत उसको अच्छा लगता है। एकान्त वास उसे भाता है। वह समस्त विश्व से प्रेम रखता और शांति का अनुभव करता है। अपने ज्ञान बल से प्रतिकूल संयोगों को भी अनुकूल बना लेता है। जिस समय जो वस्तु मिले उसी में संतोष मानता है। विजय और पराजय दोनों अवस्थाओं में उसकी मनोवृत्ति सम और स्थिर रहती है। वह महत्वाकांक्षा को घृणा की दृष्टि से देखता है। विषय और अधिकार, उसको लालच में नहीं फँसा सकते। दुःखी जीवों की ओर सहानुभूति रखता है। दुःखी जीवों को देख कर उसका हृदय पिघल उठता है। जहाँ तक हो सकता है उनको सहायता देने का वह प्रयत्न करता है। अपने सिर पर पड़े हुए संकटों के सामने निष्ठुर और कठोर बन कर उनको सहन करता है। बल के स्थान पर नम्रता दिखाता है। विरोधी के सामने भी वह शांति और सहनशीलता रखता है। अभिमान उससे दूर भाग जाता है। क्रोध उसमें देश निकाला माँग लेता है। वह केवल आत्म भान में ही मग्न रत और स्थिर रहता है। जड़ वस्तुएँ उसके मन को नहीं खींच सकतीं। आत्मा के अन्दर वह शांति का अनुभव करता है। आत्मध्यान में मग्न रहता है। कारण के बिना, वृत्तियों का प्रयोग करके वह अपने बल का नाश नहीं करता। वह जीवों को आत्मा की ओर लाने के लिए, आत्मभान में जागृत करने के लिए अपनी शक्तियों के व्यय की उपेक्षा नहीं करता। आत्मध्यान में रह कर क्षण, क्षण में अपनी शक्ति का विकास करता जाता है।

इस अमूल्य जीवन का प्रत्येक क्षण, पवित्र आत्मशक्ति के विकास में खर्च करता रहता है।

जबतक जहाँ तक इच्छायें विषयों की ओर भागती हैं वहाँ तक, कर्म की बेड़ियों को तोड़कर मुक्त होने का समय बहुत दूर रहता है। जहाँ तक आत्मा बाह्य जगत के सम्बन्ध में आना चाहता है वहाँ तक इसकी इच्छाओं की क्षति नहीं होती। जब तक विषयों से पूरी घृणा न हो जाय तब तक सच्चे आत्म मार्ग का आरम्भ नहीं होता।

जैसे क्षुधा जाग्रत होने पर खाया हुआ भोजन, पुष्टिकारक होने के साथ बल की वृद्धि करता है। ऐसे ही अध्यात्मज्ञान की भूख लगने पर इस मार्ग में प्रविष्ट होने से, शीघ्र ही आत्मा इस मार्ग में अग्रणी होता है। ऐसे ही मनुष्य को आत्मन्शा के प्रगट करने से जो समय का अमूल्य लाभ मिलता है वह होशियारी से लेना चाहिये। इसके लिये शान्त समय निश्चित करो, जब रात्रि शान्त हो, आस पास में शान्ति हो। अथवा ऐसा कोई स्थान निश्चित करो जिसके शान्त प्रदेश में पशु पक्षी तथा मनुष्यों के शब्द सुनाई न देते हों। ऐसे, प्रशान्त स्थान पर बैठकर, इन्द्रियों से मन को खींच कर, मन के सङ्कल्प विकल्प शान्त करके अन्दर की ध्वनि का सुनना चाहिये।

विश्व की स्थूल हवा में जो मधुर शब्द सुनाई नहीं पड़ता, वह शब्द, अन्तर वृत्ति से अपने अन्दर सुनो। पहले तो कुछ

सुनाई न देगा, पर इस शान्त मौन में निर्विकल्प स्थिति में, मन की स्थिरता वाली दशा में पवित्र होने का यत्न रहता है।

कुछ समय के बाद अनहद संगीत वाला शब्द प्रगट होगा। ऐसा अन्तरीय शब्द सुनने पर उससे उसी में आगे आगे गहरे गहरे चलते जाओ। इसके बाद यह नाद, अनेक ध्वनियों को एकत्रित कर एक रूप हो जाता है। अन्त में यह एक नाद भी नहीं रहता। साधक, उसकी ध्यान में उसके पीछे सूक्ष्म उपयोग को चलाता है। जब उस नाद की खोज में देह का विचार भूल कर उसमें एक तार हो जाता है, तब नाद, बिंदु के रूप में परिणत हो जाता है। यह बिन्दु प्रकाश रूप होकर आत्म स्वरूप का एक सदृशबोधक बनता है। अन्त में उसके सच्चे प्रभु के साथ-शुद्ध आत्मा के साथ भेंट कराकर उस प्रभु के साथ ही साधक को मिला देता है।

---

## प्रकरण सत्रहवां

## साधन का आरम्भ

मन के सुधरने से, वचन और शरीर सुधरते हैं और मन के बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं। आरम्भ में समस्त दुर्गुण मन में उत्पन्न होते हैं, फिर वचन और शरीर में इन्हीं की दुष्ट भावनायें कार्य रूप में प्रगट होती हैं। मन के सुधारने में प्रथम आलस्य को दूर करने की आवश्यकता है। यह प्रथम सीढ़ी है। इसके ऊपर पग रखिये। इसके बिना मकान के ऊपर नहीं चढ़ सकता।

आलस्य प्रभु मार्ग का रोकता है, अथवा भुलाता है। आवश्यकता से अधिक निद्रा न लेनी चाहिये। शरीर को, ऐसा निराप आराम न दो जिससे कि वह आलसी बन। काम काज से घबराना नहीं चाहिये। कार्य को विशेष धीरे धीरे करके, उसमें व्यर्थ समय व्यतीत न करो। भोजन से पहले या पीछें, प्रातः या साय, निकम्मी गप्प मारने में समय को न खाओ।

निरन्तर प्रभात में उठने का स्वभाव डालो। शरीर को आवश्यकतानुसार विश्राम दो। काम छोटा हो या बड़ा, उसका ध्यान दूर करो। जागने के बाद शय्या में ही न पड़े रहो। निरुपयोगी बात करने की आदत छोड़ दो। एव, कण्ठतक पेट भर कर खाने का स्वभाव न डालो। यह उच्च जीवन की दूसरी सीढ़ी है। जो मनुष्य, आवश्यकता से अधिक खाता है, स्वादिष्ट पदार्थों को देखकर प्रत्येक समय खाने की इच्छा करता है उसका शरीर रोगों के लिए भोग रूप बनता है। निरन्तर अमुक परिमाण में ही, वस्तुएँ खाना चाहियें, उनकी गणना करली, और गणना से भी कुछ कम खाना उचित है। स्वच्छ और पवित्र तथा सादा भोजन खाना भोजन करने का समय निश्चित रखना चाहिये। यह न हो कि जब इच्छा हो तब खा लिया जाय, परन्तु तात्र भूख में निश्चित समय पर खाना योग्य है। रात्रि को भोजन न करना चाहिये। क्योंकि भोजन करने से निद्रा विशेष आता है। भोजन के सम्बन्ध में, परिमाण, मर्यादा और निश्चित समय का उल्लंघन न होना चाहिये। इसमें सावधान

रहना जरूरी है। खाने के सम्बन्ध में, जब तक किसी वस्तु से हृदय न फिरे, अथवा मन की भावना न बदले, तब तक भोजन में फेर फार करना, अति उपयोगी नहीं होता। स्वाद के लिए, या मन की प्रसन्नता के लिए, न खाना चाहिये। विषयों की इच्छा और जिह्वा की लालुपता से खाना स्वच्छन्द वृत्ति है। ऐसी वृत्ति में हृदय को, सदा स्वतन्त्र रखकर अपने आप को पवित्र बनाना चाहिये।

विलम्ब तथा दूसरों के सहारे के बिना, शारीरिक संयम की रक्षा करना, शक्ति पूर्वक काम करना, प्रातःकाल जागना, मिताहार, स्वल्प भोजन में सन्तोष, विशेष भोजन में अरुचि और विषय वासनाओं पर अंकुश रखना, आदि बातों से, जीव शरीर सम्बन्धी दो सीढ़ियों पर चढ़ा हुआ गिना जाता है।

शरीर शुद्धि के पश्चात् वचन शुद्धि करने का अभ्यास आरम्भ करना चाहिये। पर की निन्दा न करनी, दूसरों की बुराई को न ढूंढना, दूसरों के दोषों को उनके परोक्ष में न कहना, उनके दोषों का विस्तार अथवा अतिशयोक्ति से वर्णन न करना, किसी की गुप्त बातें प्रगट न करना, इन सब बातों का समावेश, निंदात्याग में किया जाता है। हर एक निन्दा करने वाले में क्रूरता अविश्वास और आलस्य के तत्त्व अवश्य होते हैं।

सत्य जीवन व्यतीत करने वाले मनुष्य निंदा के वचन नहीं बोलते। वे तो ऐसे वचनों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

किसी पर कलंक नहीं लगाते। शत्रुओं का भी अनादर नहीं करते। वे जिन बातों को शत्रुओं के सामने नहीं कह सकते, उनको परोक्ष में भी नहीं कहते। इस प्रकार औरों के साथ आचरण करने से दुष्ट भावनायें स्वयमेव शान्त हो जाती हैं।

खाली समय में व्यर्थ बातें करना, बिना जाने ही दूसरों के घर की बातें करनी, समय व्यतीत करने के लिए उद्देश्यहीन बकवाद करना, वस्तु तत्व का ज्ञान न होते हुए भी, अपनी पंडिताई जतलाने के लिए "मैं जानता हूँ" इस प्रकार दूसरों की हाँ में हाँ मिलाना, बेतुकी बातें, दूसरों के न मानते हुए भी, करते जाना, इन सबका व्यर्थ भाषा में समावेश होता है।

वाणी की उच्छृंखलता, वाणी पर अंकुश न होना इसका कारण अनियमित नहीं होता है। सच्चरित्र जन, अपनी जिह्वा को अपने वश में रखते हैं। इस प्रकार अन्त में मन पर अधिकार जमाना सीखते हैं। वे जिह्वा को इस प्रकार नहीं चलाते जिससे कि उनकी मूर्खों में गणना हो। वे जो कुछ बोलते हैं हेतु पूर्वक बोलते हैं अथवा मौन रखते हैं। यह ठीक भी है क्योंकि अण्डबण्ड बकने से तो, शान्त बैठना ही उत्तम समझा जाता है।

कठोर भाषा बोलने वाला मनुष्य औरों को गालियाँ देने वाला पुरुष, औरों में खोटे दोषों का आरोपण करने वाला जन, सन्मार्ग से पतित हुआ हुआ होता है। अनुचित वचन कहना केवल मूर्खता है। जब कठोर वचन बोलने का मन में भाव उत्पन्न हो तब मुँह बन्द रखना चाहिये। सदाचारी जन

कलह करने के स्थान में शान्त रहते हैं। इसलिए उपयोगी, सत्य, पवित्र और आवश्यकतानुसार वचन का व्यवहार करना चाहिए। उच्छृङ्खल प्रकृति और दूसरों के अपमान करने की टेव न रखनी चाहिए। रस में भंग हो ऐसी हँसी निकम्मा गप्पा और लज्जाजनक बातों से सदा परहेज रखना चाहिए। दूसरों के मर्म स्थान का आघात पर विजय प्राप्त करो। छोटे हों या बड़े किसी के भी दोषों की, अतिशयोक्ति में वर्णन न करो। सूचना में भरी बात, रहस्य हाल सुनकर, यह सब दोष दृष्टि में से प्रगट होता है। दूसरों की भूल निकालने में पाप, दुःख अथवा शोक दूर नहीं होता।

जो मनुष्य, दूसरों की त्रुटियों का शोधन के लिए दूसरों की बात सुनता है वह सत्य के मार्ग से बहुत दूर है। जो मनुष्य अपनी वाणी को नम्र तथा शुद्ध करने का प्रयत्न करता है वह ही सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकता है, अपनी शक्ति को संचित कर सकता है, और मन को स्थिर करके सत्य को अपने हृदय में समझ कर सकता है।

बुद्धि पूर्वक जिह्वा पर संयम रखना सीखो। शुद्ध, नम्र, और आवश्यकतानुसार, सत्य वचन बोला जाय तब शुद्ध वाणी स्वाधीन हुई कही जाती है।

शरीर के दासत्व से मुक्त हुए बिना कोई भी मनुष्य अपने मन को सत्य मार्ग में नहीं लगा सकता। सदाचरण का पक्का सीखे बिना मन के सूक्ष्म गुण, समझ में नहीं आते।

आलसी शरीर का यह अर्थ है कि मन आलसी है। उच्छृङ्खल वाणी का यह भाव है कि उसका मन अनियंत्रित है अर्थात् स्वाधीन नहीं।

जब मनुष्य, आलस्य तथा स्वार्थ पर विजय पाता है तब वह संयम, विनयशीलता, और स्वार्थत्याग आदि महागुणों का अपने हृदय रूपी भूमी में बीज बोकर, उसको ज्ञान रूपी जल से सींचता हुआ, उनका पोषण करता है। तथा जल, शक्ति और दृढ़ प्रतिज्ञता प्राप्त करता है। तब यही इनसे उच्च उपदेश ग्रहण करने में सहायक साधन रूप बनते हैं।

जिस पुरुष की वाणी के दोष दूर होजाते हैं, उसमें सत्यता, निरभिमान, सत्कार, दयालुता, और आत्म संयम आदि गुणों को पोषण मिलता है। और वह मानसिक स्थिरता तथा दृढ़ प्रतिज्ञा पालन करने का बल प्राप्त करता है जिससे कुवासनाओं को वशमें करके, आचरण तथा ज्ञानकी उच्च भूमि में पदार्पण करता है।

कर्त्तव्य का निरन्तर पालन किये बिना उच्च सद्गुणों की प्राप्ति और सत्य ज्ञान नहीं मिलता। स्वार्थ की दृष्टि न रख कर पूर्ण रूप से कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। कर्त्तव्य पालन के समय, व्यक्तिगत भाव और स्वार्थ के विचारों का त्याग करना चाहिये। ऐसा करने से कर्त्तव्य, क्लेशजनक होने के स्थान में आनन्दजनक होगा। परिश्रम करने से कर्त्तव्य क्लेशजनक नहीं होता। परन्तु स्वार्थमयी इच्छाओं से कर्त्तव्य पालन छोड़

ता, श्लाघनीय होता है। कर्त्तव्य कर्म जब प्रेम का विषय बनता है तब इच्छा कार्य, विश्राम और धैर्य से किया जाता है तब ही स्वार्थपरता भली प्रकार से नष्ट होती है। तब ही, सत्य के उच्च शिखर पर चढ़ने की निःसरणी मनुष्य के हाथ में आती है। महाभागी मनुष्य सदा कर्त्तव्य का पालन करने में ध्यान देते हैं। वे दूसरों के काम में रोड़ा नहीं अटकाते। अपनी भूल में सावधान रहते हैं। दूसरों की भूल देखने में समय का व्यय नहीं करते।

शुद्धि और सत्यता का अभ्यास करने वाले मनुष्य को अप्रमाणिकता, ठगबाजी और कोरी चतुराई दिखाने की टेव, दूर करनी चाहिये। बोलने में अतिशयोक्ति अथवा असत्य का प्रयोग न करना, अपयश के भय, अथवा लाभ की आशा से, छल का उपयोग न करना, मन, वचन और कर्त्तव्य में प्रामाणिक होना, तथा न्यायपरायण और पक्षपात रहित होकर व्यवहार करना चाहिये। जब स्वप्न में भी अशुभ विचार न आने पावे तब हृदय शुद्ध और उदार बनता है।

क्षमा की भावना का विकास करने से, द्वेष, वैर और इत्यादि दोष दूर होते हैं। क्षमा और दान की प्रवृत्ति से, जीवन विकास होता है। वैर आदि की भावनाओं को दूर करने से, कोई शत्रु नहीं रहता। स्वार्थ त्याग से दान और उदारता के विचार प्रगट होते हैं। इस प्रकार अन्तःकरण का परिवर्तन करने से, आत्मा की अधिक उन्नति होती है। जो मनुष्य, मन, वचन

और शरीर को दृढ़ता से पाठ सिखाता है वह अपने को वश में रखता है। वह ही दुर्गुणों और कुवासनाओं पर विजय प्राप्त करता है। संसार में, समस्त पाप केवल अज्ञानता से प्रगट होते हैं। यह अज्ञान अंधकार आत्मा के अविकास की अवस्था है। जहां तक अज्ञान का दमन न किया जाय, वहाँ तक आनन्द की प्राप्ति असम्भव है।

सब प्रकार का दुःख, मन की दुष्ट भावना में से प्रगट होता है। तथा सब प्रकार के सुख, मन की उत्तम भावना में से प्रगट होते हैं। सुख, मन का व्यवस्था पूर्वक उपयोग करने और दुःख मन का अव्यवस्था पूर्वक उपयोग करने से प्राप्त होता है। जहाँ तक मनुष्य मन की अनुचित भावनाओं में प्रवेश करता रहेगा। वहाँ तक उसका जीवन अनुचितता से व्यतीत होगा और सभी तरह क्लेश पायेगा।

भूल करना शोक का कारण है। ज्ञान से ही आनन्द की उत्पत्ति होती है। अज्ञान और मोह का नाश करने से ही मुक्ति होती है। जहाँ मन की अनुचित भावना और अनुचित प्रवृत्ति है वहाँ बन्धन है। जहाँ उचित भावना और उचित प्रवृत्ति है वहाँ स्वतन्त्रता और शांति है।

---

## प्रकरण अठारहवाँ

सुख और शान्ति के लिए परमात्मा का स्मरण एक राजा और एक रंक, एक सुखी और एक दुःखी, एक नीरोग और एक

रावान् एमा रिविधनायें विश्व में दृष्टिगोचर होती हैं। इसका आधारभूत कारण पुण्य और पाप हैं। पुण्य से जीव सुखी और पाप से दुःखी होते हैं।

विश्व में कार्य कारण के नियम अचल हैं। कारण के बिना कार्य नहीं होता। वर्तमान, सुख दुःख के कार्य उनके कारण की अपेक्षा रखते हैं। प्रथम कारण और पीछे कार्य होता है। इस नियम के अनुसार मनुष्य की वर्तमान स्थिति पूर्व के कारणानुसार बनी है। धन आदि अनुकूल साधनों की प्राप्ति में, पुरुषार्थ के साथ, यदि पुण्य प्रकृति हो तब मनुष्यों को सफलता होती है। परमार्थ और परोपकार के कार्यों से, जीव पुण्य उपार्जन करता है। मन, वचन, शरीर और धनादि के सदुपयोग करने से पुण्य का उपार्जन करता है और इससे जीव सुखी होता है। परमात्मा का स्मरण करने से आत्मा निर्मल होता है। तथा विशेष प्रकार से पुण्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार जीव, आत्म मार्ग में उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।

परमात्मा के नाम का स्मरण, निर्धन, धनाढ्य, बाल युवा, वृद्ध सुखी और दुःखी प्रत्येक जीव कर सकता है। जिसको समय कम मिले वह भी हर समय उठते बैठते चलते फिरते और काम-काज करते समय भी प्रभु का स्मरण कर सकता है। वस्त्र और शरीर की शुद्धि न होने हुए भी चुप चाप मन में जप करना, अनुचित नहीं। चलने के समय मन को जप के काम में लगाने से जप हो सकता है। रेल में या जहाज में यात्रा करते

हुए भी यहाँ बैठे बैठे मन में, जप कर सकते हो। यदि जप करते करते निद्रा भी आजाय, तो स्वप्न भी आयगे। तात्पर्य कि समय या स्थान कैसा ही क्या न हो, जप करने में कोई बाधा नहीं। मनुष्यों की आयु तो किसी न किसी प्रकार से पूर्ण होनी ही है। परन्तु यदि अपने जीवन में कोई एक महत्व का कार्य किया हुआ हो तो भावी जीवन सुखकारक बनता है। व्यवहार के किसी कार्य में भी परमात्मा का नाम न भूलो। विशेषत, कार्य के पूर्ण होते ही तुरन्त प्रभु का नाम स्मरण करो। स्वप्न दशा में भी परमात्मा का नाम स्मरण होता रहे। ऐसी स्थिति को मनुष्य इस जीवन में प्राप्त करे तो उसने मनुष्य जीवन प्राप्त करके अच्छी कमाई की ऐसा माना जाता है। तथा उसी का जन्म सफल समझा जाता है।

जाप अनेक प्रकार के हैं जिस समय अपना साध्य स्मरण राम राम में अपना लक्ष्य रमा रहे वह ही जाप उत्तम है। ऐसा जाप—"ॐ अह नम" यह पाँच अक्षरों का है। इसका अर्थ यह है।

ॐ कार में पाँच परमेष्ठी का समावेश होता है।

पच परमेष्ठी यह आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति की पाँच भूमिकायें हैं। इनमें से प्रत्येक भूमिका के प्रथम अक्षर के मेल से ॐ कार बनता है।

अरिहन्त, अशरीरी, आचार्य, उपाध्याय और मुनि यह पाँच भूमिका हैं।

[illegible]—आत्मा के पूर्ण शुद्ध स्वरूप को प्राप्त, [illegible] सिद्ध परमात्मा हैं। [illegible] पूर्ण [illegible] सिद्ध, अजर, अमर, अविनाशी इत्यादि अनेक नामों से पुकारा जाता है। इसके अन्दर [illegible] अनन्त आत्माओं का समावेश होता है।

अरिहन्त—यह [illegible] विशिष्ट पूर्ण स्वरूप परमात्मा का [illegible] है। और देह के त्याग करने पर यह सिद्ध परमात्मा [illegible] जाता है। [illegible] पूर्ण ज्ञानी [illegible] ज्ञानी तीर्थंकर आदि का समावेश होता है।

आचार्य—[illegible] अन्दर प्रभु आज्ञा के [illegible] पालक [illegible] [illegible], [illegible] प्रभु के प्राण [illegible] [illegible] और [illegible] प्राप्त [illegible] आदि का समावेश होता है।

उपाध्याय—[illegible] अन्दर [illegible] के प्रतिपादक [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] का समावेश होता है।

मुनिराज—[illegible] अन्दर [illegible] का [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] में [illegible] [illegible] साधु वर्ग का समावेश होता है।

[illegible] प्रथम अक्षर अ, सि, आ, उ, सु [illegible] [illegible] हुआ है। [illegible] व्याकरण के नियमानुसार बनता है।

अर्हं—[illegible] परमात्मा का नाम है। [illegible] [illegible], [illegible] का [illegible], "[illegible]" है। इसका [illegible] [illegible]

नहीं है। अर्हं शब्द सिद्ध चक्र का नाम मंत्र है। सिद्ध प्रभुओं का समुदाय सिद्ध चक्र है। जिसमें विरत्न व तत्व रूप देव, गुरु धर्म इन तीन तत्वों का समावेश होता है। अरिहन्त और सिद्ध इन दो के अन्दर देव का समावेश होता है। आचार्य उपाध्याय और मुनि इनका गुरुपद में समावेश होता है। दर्शन, ज्ञान चरित्र और तप इन चारों का धर्म में समावेश होता है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्रगट करने का साधन धर्म है। आत्मा आदि वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान "ज्ञान" है। इस ज्ञान में रहने वाली दृढ़ श्रद्धा का नाम "दर्शन" है। ज्ञान और श्रद्धा के परिमाण से व्यवहार करना 'चरित्र' है। सब इच्छाओं का निरोध "तप" है। इन चारों को धर्म कहा जाता है। ऊपर के पांचपरमेष्ठी के साथ इनका मिलान से इनकी नव संख्या बनती है। इस नव के समुदाय को सिद्ध चक्र कहते हैं। इस नव नव पद का वाचक अर्हं शब्द है। अर्हं शब्द, बीज रूप होने से उसमें सिद्ध चक्र का समावेश होता है। आत्मा को उच्च भूमिका में ले जाने वाले देव गुरु और धर्म में लक्ष्य लगा कर जाप करना, आत्मा के शब्द रूप तप के समान है। यह जाप 'ॐ अर्हं नमः' है। इस मंत्र के कोटि जाप करने चाहिये। इससे खाब विचार पास नहीं आते। मन के अन्य दिशा में न भटकने से, यह जीव पाप से बद्ध नहीं होता। जाप से अपनी ओर पवित्र परमाणुओं का आकर्षण होता है। अपने इधर उधर का वातावरण पवित्र होता है। मन और शरीर आदि के परमाणु पवित्र बनते हैं। सकल्प सिद्ध हो जाते हैं। पाप कम होता है। प्रतिकूलतायें दूर होती है।

अनुकूलतायें प्राप्त होती हैं। प्रभु के मार्ग में आगे बढ़ने के अधिकारी होते हैं। लोक प्रिय बनते हैं। व्यवहार की व्याकुलता कम होती है, दीर्घ समय के बाद वचन सिद्धि की प्राप्ति होती है। यह सब कुछ परमात्मा के नाम स्मरण से होता है। तात्पर्य कि जप से प्रत्येक मन कामना सिद्ध होती है। अवधि ज्ञान की भांति त्रिकाल ज्ञान भी जाप से प्रगट होता है। यह गुण जाप से प्रगट होता है।

किसी भी धर्म को इस जाप से बाधा नहीं पहुँचती। इसका कारण यह है कि इसमें किसी धर्म विशेष का विशेष प्रकार से नाम नहीं लिया जाता है। पर, साधारण नाम है। जिसका मैं प्रत्येक योग्यातियोग्य तत्व को मैं नमस्कार करता हूँ। यह इसका सामान्य अर्थ है। इसलिए, महा फलदायक यह जाप, प्रत्येक मनुष्य को करना उचित है। आगे बढ़ने की इच्छा वालों के लिए यह जाप प्रथम भूमिका है। आँखें बन्द करके, भृकुटी में उपयोग के साथ ध्यान देकर खुली हुई आँखों की तरह निमीलित नेत्रों से अन्तर्ध्यान होकर 'ॐ अर्हनम" इस मन्त्र का जप करना चाहिये॥ इति॥

## * ग्रन्थ समाप्ति *

इस प्रकार तपगच्छ के आचार्य श्री विजय कमल सूरि जी के शिष्य, आचार्य श्री विजय केसर सूरि का बनाया और संग्रह किया हुआ "प्रभु के मार्ग में ज्ञान का प्रकाश" इस नाम का यह ग्रन्थ वि० सं० १९८४ की श्रावण कृष्णा पंचमी को व्यास नगर में समाप्त हुआ॥ शुभमस्तु॥

# 'आत्मानन्द'

—>>(<—

जैन श्वेताम्बर समाज में हिन्दी भाषा में सामयिक पत्रों का अभाव देखकर, और इसका होना अति आवश्यक समझ कर श्री आत्मानन्द जैन ट्रैक्ट सोसाइटी, श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल, पंजाब और श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब ने इस अपने मुख पत्र रूप में निकालना प्रारम्भ किया है। इसमें धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक नैतिक और वैज्ञानिक लेख रहते हैं। वार्षिक चन्दा भी सर्व साधारण की सुविधा के लिए केवल २) रक्खा है। हर साल एक बहुरंगा जैन पंचांग भी मेम्बरों को भेंट किया जाता है।

ऐसे पत्रों की सफलता ग्राहकों की बहु संख्या पर निर्भर है। अतः जैन समाज से सविनय प्रार्थना है कि इस पत्र को अपनायें स्वयं इसके ग्राहक बनें, और अपने मित्रों को भी ग्राहक बनायें।

चंदा मनी आर्डर से ही भेजना उचित है क्योंकि वी० पी० द्वारा ≈) अधिक देने पड़ते हैं।

पता —

मैनेजर—'आत्मानन्द'

अम्बाला शहर।

# नवतत्व संग्रह तथा उपदेश बावनी



यह अपूर्व ग्रन्थ श्री सद्गत न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य १ १०८ श्रीमद्विजयानन्द सूरि ( आत्माराम जी ) महाराज की अद्वितीय रचना है। उनकी अपनी हस्तलिखित प्रति से श्री हीरालाल कापडिया एम०, ए०, ने जैनाचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि महाराज की प्रेरणा से इसका संपादन किया है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी पुस्तकें बार बार नहीं प्रकाशित हुआ करतीं। इस अपूर्व ग्रन्थ की परम रचना और उनकी रक्षा करना प्रत्येक जैन का कर्त्तव्य है। ऐसी पुस्तकों से हरकाल में ग्रन्थ कर्त्ता तथा जाति का नाम जगद्विख्यात होता है। पुस्तक सजिल्द व सचित्र है और अच्छे मोटे कागज पर डबल क्राउन साइज में धर्म के प्रसिद्ध निर्णय सागर प्रेस में छपी है। मूल्य मात्र रु० ४) है। आशा है कि प्रत्येक जैन इस ग्रन्थ के प्रचार में यथा शक्ति योग देगा।

## पंच प्रतिक्रमण ( हिन्दी )

यह पुस्तक शुद्ध सुन्दर टाइप में छपी है। पुस्तक सजिल्द है। मूल्य केवल ॥) प्रति है।

पता—

**मंत्री, श्री आत्मानन्द जैन सभा,**

अम्बाला शहर।

SHRI ATMANAND JAIN SABHA

## सर्व साधारण के लिए

# उपयोगी पुस्तकें—

| | मूल्य |
|---|---|
| १—सामायिक तथा चैत्यवन्दन ( हिन्दी भाषा ) ( सम्पादक—ब्रह्मचारी शंकरदास जी ) | ≡)॥ |
| २—गृहस्थों के रोज़ाना फ़राइज़ और उनका मक़सद ( उर्दू भाषा ) अनुवादक ब्रह्मचारी शंकरदास | बिना मूल्य |
| ३—श्री आत्मानन्द जैन शिक्षावली—भाग पहला | ।) |
| ४—श्री आत्मानन्द जैन शिक्षावली ,, दूसरा | ।≈) |
| ५— ,, ,, ,, तीसरा | ॥) |
| ६— ,, ,, ,, चौथा | ॥≈) |

इन पुस्तकों के अध्ययन से सर्व साधारण को जैनधर्म के वास्तविक मर्म का पूरा पूरा ज्ञान हो सकता है। यह पुस्तक प्रत्येक घर में रहनी चाहियें।